

6.V.

रतिनाथ की

श्रीः

विनिवेदनम्

—(ः):—

गोस्वामिकुलसर्वस्व-विश्व-विकस्वरकीर्ति-
मनीषि-मण्डल-मौलि-मण्डन
श्री १०८ युत दीक्षितजी महाराज श्रीचरणानां
पाणि-पङ्कजे
तदीयकृपाप्राप्तप्रकाशनश्रियं

मधुवीथोमिमां

सादरं समर्पयति

रचयिता

मधु-वीथी



श्री श्यामानन्द झा

प्रधानाध्यापक-जे. वी. एम. संस्कृत कालेज
बम्बई नं. २.

प्रकाशक :

पं. ओरमाकान्त सिध

व्या. आ. सा. आ.

जयदेवपट्टी दरभङ्गा



मुद्रक :

दामोदर रतनशी बनातवाला

श्री वैश्वानर प्रि. प्रेस.

१६३, पांजरापोल रोड, मुम्बई नं. ४.

॥०॥ श्रीहरिः ॥०॥

गद्यान्मनोरमं पद्यं शास्त्रात्काव्यं विशिष्यते;
श्रव्याद्दृश्यं मनोहारि हृद्यः शान्तः स्थिरोरसः ।

✱

श्री हरिहरोपाध्याय विरचित

भर्तृहरि-निर्देश नाटक

का

हिन्दी अनुवाद

भर्तृहरि-वैराग्य

अनुवादक—

नन्दकिशोर झा

✱

संस्कृति का लीलामय नाटक सबजन को ही भाता है,
किन्तु जगन् की अस्थिरता का भाव न स्थिर हो पाता है ।

परदा हटा हमें लखना है — कौन बनाता कैसा रूप ?
सच्चा ज्ञान हमें करना है, जैसे हुए भर्तृहरि भूप ।

।०। कालात्मने नमः ।०।

समर्पण

पूज्यपाद पिता जी ! (बाबूजी !)

आजन्म मेरे प्रति आपके जो भी स्नेहभाव रहे हों; किन्तु अन्तमें आपने निःस्नेह तथा विमुख होकर मुझे सर्वथा त्याग ही दिया ! यही है इस असार संसार की शाश्वत विनश्वरता तथा यही है क्रूर काल की कुटिल चाल ! अस्तु, आपने मुझे यह पाञ्चभौतिक शरीर दिया है और उसीके द्वारा अभी-अभी कथमपि सम्पादित लघुतम परन्तु परम श्रेयस्कर यह भाव-पिण्ड आपकी अविस्मरणीय स्मृतिमें सादर समर्पित है; साथ ही अब मेरी सक्रिय चेष्टा हो रही है संसार-हेतुभूत-मनोवृत्तिमयी इस स्मृतिसे भी निवृत्तिकी ही ओर।

—आपका लघुतम एकमात्र पुत्र ।

एकादशाह श्राद्ध दिवस, द्वितीय चैत्र शु० ४ सो०, सं० २००२ ।

॥ श्रीहरिः ॥

प्राक्कथन

बहुत दिन पहले जब मैंने संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ ही किया था, उसी समय कुछ पुस्तकें पासलसे काशीसे मँगवायी थीं; उन्हींके साथ 'भर्तृहरि-निर्वेद' नाटक (सटीक) का एक रद्दी फर्मा लपेटा हुआ आया था, जो पञ्चमाङ्क का उपान्त्य अंश था । उसीके द्वारा मुझे संस्कृत साहित्यमें उपर्युक्त नाटकके अस्तित्वका बोध तो हो गया; किन्तु मैं उसके रचयिता या कथानकसे कुछ भी अवगत न हो सका । उस समय मैंने हिन्दीमें पढ़े हुए 'भरथरी-चरित्र' के आधार पर यह सहज ही अनुमान कर लिया था कि इसमें भी उसीके अनुसार भर्तृहरि-द्वारा एक विशिष्ट मृगका व्यर्थ वध होना तथा उसी अवसर पर गुरु गोरखनाथजीके द्वारा समुचित उपदेश पाना ही इनके वैराग्यका कारण हुआ होगा । अथवा एक किंवदन्ती (जनश्रुति) यह भी सुननेमें आती है कि भर्तृहरि जी को अपनी किसी प्रियतमा रानीके व्यभिचारिणी हो जानेसे ही वैराग्य उत्पन्न हुआ था । इसकी पुष्टि भर्तृहरि-रचित

‘नीतिशतक’ के द्वितीय श्लोकसे भी पूर्णतः होती है। वह श्लोक इस प्रकार है—

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता !
 सा चान्यमिच्छति जनं सजनोऽन्यसक्तः !
 अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या !
 धिक्तां च तं च मदन च इमां च मां च !!!

अस्तु, इन्होंने उपर्युक्त बातों को सोचकर मुझे उक्त पुस्तकके देखनेकी कोई विशेष अभिरुचि या उत्कण्ठा उस समय न हुई। क्रमशः बीस-बाईस वर्षों का समय बीत गया।

इधर ‘कल्याण’ के विगत वैशाखवाले (अष्टम) अङ्कमें पं० श्री विष्णुदत्त जी शर्मा, बी० ए० का एक ‘भट्टहरि निर्वेद’ शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने इसी नाटकके कथानक पर संक्षेपमें प्रकाश डालते हुए तथा तृतीय अङ्कके कुछ अंशोंका प्रायः अविकल (पद्य-रहित) अनुवाद करते हुए इसके सान्त-ग्रधान रससे पाठकोंका विशेष मनोरंजनके साथ ही यथेष्ट हित भी किया है। साथ ही उक्त लेखके अन्तमें उन्होंने पाठकोंसे मूल पुस्तक पढ़नेका अनुरोध भी किया है; इसके लिए वे हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

अस्तु, इसी लेखके पढ़नेके बादसे मेरे मनमें उक्त पुस्तक को देखनेकी प्रबल उत्कण्ठा हुई; तदनुसार गत मार्गशीर्षमें जब कुछ अन्यान्य पुस्तकें मँगाने लगा तब इसे भी मँगाया तथा पढ़कर अनिर्वचनीय आनन्द उपलब्ध किया। यहाँ तक कि पहले मैंने अपने मनमें प्रायः यह निश्चय कर लिया था कि अब (प्रिय-मिलन

समाप्त करनेके बाद) फिर मैं कोई पुस्तक लिखनेका साहस न कर सकूँगा; किन्तु 'हरेरिच्छा बलवती' के अनुसार इसे पढ़ते ही मुझे इसके अनुवाद करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई तथा लगे हाथों (साधसे) अनुवाद कार्य भी आरम्भ हो गया। पहले पद्योंका ही अनुवाद करने लगा कि देखें कि कैसा होता है। प्रायः अर्द्धांश पद्यानुवाद हो जाने पर मुझे विश्वास हो गया कि यह कार्य मुझसे किसी भौति सम्पन्न हो जायगा और 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' के न्याय से जो हो जायगा वह अच्छा ही होगा। अस्तु।

उपर्युक्त धारणा के अनुसार गत फाल्गुन कृष्ण सप्तमी रविवारसे इसका वस्तुतः अनुवाद - कार्य आरम्भ हुआ है तथा प्रथम चैत्र शुक्ल सप्तमी, मंगलवार को यह कार्य समाप्त भी हो गया। यह अनुवाद कैसा हुआ— इसका निर्णय तो विशेषज्ञ ही करेंगे। मुझे इस विषय में केवल यही कहना है कि मैंने इस अनुवादमें मुख्यतः पद्यानुवादमें सर्वथा यथेष्ट स्वतन्त्र पथका ही अनुसरण किया है।

संस्कृतसे हिन्दीमें पद्यानुवाद करनेमें सर्व प्रथम जो कठिनाता उपस्थित होती है, वह यह है कि संस्कृतमें विभक्तियाँ प्रायः पदोंमें ही श्लिष्ट रहती हैं तथा बहुतसे पद सामासिक रहते हैं। अतएव उसी समकक्षके हिन्दी छन्दोंमें उनका अविकल शब्द तथा भाव के साथ अनुवाद कर देना प्रायः असम्भव हो जाता है और उसके निवारणार्थ जब कुछ बड़े छन्द लिये जाते हैं तो कहीं-कहीं भरतीके शब्द उनमें घुसेड़ने पड़ते हैं; जिससे रचना में कुछ शिथिलता आ जाती है, जो अरुचिकर होती है। कहीं-कहीं शब्दों पर ही विशेष ध्यान दे देनेसे हिन्दीकी

गति-विधिमें भी कुछ कृत्रिमता-सी आ जाती है, वह भी इष्ट नहीं होती ।

इसमें मेरी पद्धति यही है कि कहीं तो छोटे ही छन्द लेकर मूलके कुछ परिश्रय पदों या भावोंकी भी उपेक्षा कर दी है तथा कहीं बड़े छन्द लेकर कुछ नये भाव भी अपनी ओरसे रख दिये हैं । कहीं-कहीं तो मूल पद या भाव को छोड़कर दूसरे ही पद या भाव रख देने पड़े हैं ; जैसे कि—

“ जगो मृषाकरोद्धेदं विषस्य विषयस्य च;
अजामजंच तन्न नूमाकारो मेदयत्ययम् ॥१६॥
 यदि यौवने न तृष्णा कृत्स्नापि विनिर्गता हताशेयम्;
 निर्यास्यति सहचर्या जरसा श्लिष्टा न कष्ट कृष्टापि ॥१७॥”

इन दोनों श्लोकों का क्रमशः अनुवाद मैंने यों किया है—

विषय तथा विषमें ‘य’ ही नाममालका मेद;
 जैसे है वृष-वृषभमें केवल ‘भ’ का विभेद ।
 यदि यौवनमें जारिणी तृष्णा हुई न नष्ट;
 जरा सौतके सहित तो देगी अतिशय कष्ट ।

अस्तु, मुझे अ.शा ही नहीं, प्रत्युत पूर्ण विश्वास है कि यह अनुवाद हिन्दी पाठकों को मौलिक रचना-सा ही रुचिकर प्रतीत होगा । हाँ, संस्कृतज्ञ विद्वानों को यदि कहीं भावोंमें कमी दीख पड़ेगी तो कहीं भावाधिक्य भी दिखेगा ही । रुचने न रुचनेकी बात दूसरी है । वस्तुतः संस्कृतज्ञोंके लिए मेरा यह उद्योग भी नहीं है; क्योंकि उनके लिए तो मूल पुस्तक ही पर्याप्त है । मेरी यथाशक्ति चेष्टा तो हिन्दी-मात्र जाननेवालों को इस लघुतम किन्तु

सहत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्नके ब्रह्मास्वाद-सहोदर विविध रसोंके साथ ही शान्त रससे अपने समान ही आप्यापित करना मात्र है; क्योंकि मुझे इसमें भारविके वचनानुसार— “अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरत्नीयसि दृश्यते गुणः” मिला है।

इस ग्रन्थके रचयिताके विषयमें मूल पुस्तकके सम्पादकों ने जो टिप्पणी (नोट) की है, उसका अविकल अनुवाद यह है—

“यह हरिहरोपाध्याय मिथिला देशमें कब उत्पन्न हुए— यह निश्चय नहीं होता। इनके बनाये हुए इस भर्तृहरि-निर्वेद-नाटककी एक शुद्ध पुस्तक मिथिलाक्षरमें लिखी हुई किसी पुस्तककी प्रतिलिपि-रूप बाबू श्री देकरदेश्वर सिंहकी आज्ञासे मैथिल परिद्धत श्री चेतनाथ शर्माने भेजी थी, उसीके आधारसे यह पुस्तक छपी। हरिहरोपाध्यायका बनाया हुआ एक ‘सुभाषित’ भी मिथिलामें उपलब्ध होता है।”

पं० विष्णुदत्त जी शर्माने उपर्युक्त कल्याणवाले लेखके आरम्भमें इस पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है, वह यों है—

“यह निर्णय सागर प्रेस, बम्बईकी “काव्य-माला” का ग्रन्थ नं० २६ है, जिसके रचयिता श्री हरिहरोपाध्याय हैं। इनके पिताका नाम माधव और माताका लक्ष्मी देवी था— जैसा कि इन्हींके दूसरे ग्रन्थ ‘हरिहर-सुभाषित’ में लिखा है। काव्यमालाके सम्पादकोंने कदाचित् प्रसिद्धिके आधार पर इनको मैथिल बतलाया है; परन्तु इनके समयका पता उनको नहीं लगा। कोल्हापुरकी नामशेष अद्वितीय संस्कृत मासिक पत्रिका “संस्कृत-चन्द्रिका” के विद्वान् उपसम्पादक स्वर्गवासी अप्पा शर्मा राशिवडंकर विद्यावाचस्पतिने इनको दक्षिणात्य और इनका समय पन्द्रहवीं

शताब्दीके पूर्व भागमें अनुमान किया है ।”

इसके अतिरिक्त मुझे एक प्राचीन श्लोक अपने भागिनेय पं० श्री सिंहेश्वर जी से प्राप्त हुआ है, जिससे कुछ-कुछ पता चलता है कि ये प्रसिद्ध मैथिल पण्डित ‘मदनोपाध्याय’ के समकालीन तथा प्रकाण्ड पण्डित होनेके नाते उनके प्रतिस्पर्धी भी थे। श्लोक यों है— +१

हरिहर, परिहर गर्व गजराजविदारणेऽङ्कशो मदनः ।

मदन, विमुद्रय वदनं स्मर हरचरितं पुरातीतम् ।

इन्हीं यथालब्ध प्रमाणोंके आधार पर मैंने भी इन्हें मैथिल ही माना है; किन्तु कदाचित् ये मैथिल न भी हों तो भी मेरी जो श्रद्धा इनके प्रति उत्पन्न हुई है, उसमें रज्जुमात्र भी कमी न होगी; क्योंकि किसी भी कवि या पण्डितकी कसौटी उसकी प्रतिभा तथा पाण्डित्य ही है, न कि जातीयता तथा प्रान्तीयता। यह अत्यन्त खेद का विषय है कि कभी-कभी विद्वन्मण्डली भी इसी संक्रामक रोगसे आक्रान्त दिखायी देती है !

+१ ‘किशोर’ मासिक (पटना) के अप्रैल १९३६ के अङ्कमें हजारी प्रसाद द्विवेदी-लिखित “पत्थर खिसक पड़ा था” शीर्षक एक लेख प्रकाशित है। उसमें यह श्लोक कुछ पाठान्तर के साथ यों है—

“हरिहर परिहर गर्व कविराज गजाङ्कशो मदनः,

मदन विमुद्रय वदनं हरिहर चरितं स्मरातीतम् ।”

इस लेखके अनुसार मदन कवि वंगाली ब्राह्मण थे; तथा वे और हरिहर कवि प्रतिस्पर्धीके रूपमें मन्त्री वस्तुपालके दरबारमें रहते थे।

यद्यपि उपाध्याय जी का 'सुभाषित' देखनेका सौभाग्य मुझे अबतक नहीं मिला, आगे भी मिलेगा या नहीं— यह भी सन्दिग्ध ही है; तथापि इस लघु पुस्तिका-मात्रके पढ़नेसे भवभूति को यह गर्वोक्ति— नहीं-नहीं, वस्तुतः यथार्थोक्ति— मुझे सहसा स्मृत हो आती है— जो इन पर भी अक्षरशः लागू है—

यद्देदाध्ययनं तथोनिषदां सांख्यस्य योगस्य च,
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहिततः दधिद्रूणो नाटके;
यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं,
तच्चोदस्ति ततस्तदेव गमकं पारिडत्यवैदग्ध्योः ।

(मालती माधव नाटक)

प्रायः किसी यूरोपीय सहृदय समालोचकने कालिदासके विषयमें लिखा है कि 'कालिदास यदि केवल 'मेघदूत' ही लिखकर मर गये होते तो भी आज संस्कृत साहित्यमें जो यश उन्हें प्राप्त है, उसमें कुछ भी कमी न होती ।" ठीक यही बात इस पुस्तक को लेकर मैं भी उपाध्याय जी के विषयमें हृदयपूर्वक कहता हूँ ।

इन्होंने भानुमतीके विषयमें जो कुछ लिखा है, उसका कुछ ऐतिहासिक आधार भी है या नहीं — यह तो मैं नहीं कह सकता; किन्तु यह सब यदि कोरी कवि-कल्पना ही हो, तो भी यह मृगवध से या पत्नीके व्यभिचारिणी होनेसे भर्तृहरिके वैराग्य होनेवाली सत्य घटनाको भी बहुत पीछे छोड़कर सुषमामें कहीं आगे निकल जाती है । मुझे तो इस अनुपम काव्यमें शान्त रसके साथ ही साथ शृङ्गार तथा करुण का भी परम परिपाक (उत्कर्ष) दिखायी देता है । धन्य है कवि भर्तृहरिकी ही प्रतिभाके समान इस मोक्षानुरागी कविकी भी आदरणीय अनुपम प्रतिभा !

शर्मा जी ने भी इस पुस्तककी अथेष्ट प्रशंसा की है और वह समुचित ही की है—

“ यह नाटक पाँच अङ्कों, सैंतीस पृष्ठों और डेढ़ आने मूल्यका छोटा-सा है, परन्तु शान्त-रसप्रधान वैराग्य-विषयक और सार ही सार है; कथा और उसका बन्धन दोनों ऐसे ही रोचक और रचना अक्षर-अक्षर ऐसी मनोहर है कि पाठकोंके चित्तको मानों कील देते हैं; विशेषकर वैराग्यका ऐसी विलक्षणतासे निरूपण किया है कि अक्षर-अक्षरमें चमत्कार है; और श्लोकोंका तो क्या कहना, वे तो अमूल्य हैं । ”

किन्तु यह सब तो हुई मूल पुस्तककी बात; परन्तु मेरे अनुवादमें ये गुण कहाँ तक आ सकें हैं—यह तो सहृदय समुक्षु विद्वान् ही कह सकेंगे । मैं यहाँ कुछ धृष्ट होकर केवल इतना ही कहनेका साहस करता हूँ कि काव्यमर्मज्ञ पाठकों को इस विषयमें सर्वथा हताश न होना पड़ेगा ।

इतना होते हुए भी मेरे मनमें एक यह आशङ्का उठ रही है कि कहीं आधुनिक कर्मनिष्ठ विद्वान् यह न कह उठें कि इस उद्योग-प्रधान युगमें इस अकर्मण्यताके प्रचारक ग्रन्थके अनुवादकी आवश्यकता ही क्या थी ? इस विषयमें मेरा नम्र निवेदन यही है कि यह संसार एक ही है, किन्तु इसमें रहनेवाले प्रत्येक सचेतन प्राणी अपनी-अपनी बुद्धि और धारणाके अनुसार एक दूसरेसे प्रायः सर्वथा विभिन्न पथोंमें सुखोपलब्धिके लिये ही अथेष्ट निरत हैं और वे उन्हींमें यथाशक्य सुख पाते भी हैं; फिर भी क्लेशों से किसीका पिण्ड छूटा नहीं । कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो परिस्थिति-वश सांसारिक जीविका किंवा ऐहिक सुख-साधनमय

कर्मोंमें लगे रहते हैं फिर भी उनका मन वस्तुतः उन विषयोंमें सुख नहीं पाता; वे किसी उच्चतर अतीन्द्रिय सुखके लिए सतत अभिलाषुक रहते हैं। वैसे ही व्यक्तियों को ऐसे ग्रन्थोंसे कुछ क्षणोंके ही लिए सही, कुछ मानसिक सुख—ब्रह्मास्वाद-सहोदर सुख—अवश्य मिल जाता है; उन्हींके लिए यह मेरा यथासाध्य स्वल्प प्रयास है।

रही अकर्मण्यताकी बात, सो मेरे जानते वस्तुतः त्यागी हो सकना अकर्मण्यता कथसपि नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण अपरिमेय कर्मशीलता है। कौन विचारशील व्यक्ति यह कहने का साहस कर सकता है कि भगवान् बुद्धदेव तथा गोस्वामी तुलसीदास जी अकर्मण्य थे ! उन्होंने अपने ही लिए नहीं, प्रत्युत संसारके लिए भी जो कुछ किया; वह क्या कोई विश्वविजयी सम्राट् भी कर सकता है ?

इतने पर भी इससे यदि किसीके हृदयको वस्तुतः सन्तोष न हो, तो वह भी एक तरह से स्वाभाविक ही है; क्योंकि गोस्वामी जी ने ऐसोंको ही इङ्गित करके लिखा है—

“काक कहहिं कलकंठ कठोरा ।”

यों तो इस पुस्तकके लिख देने मात्रसे ही मुझे पूर्ण सन्तोष तथा स्वान्तःसुखका अनुभव हो रहा है; किन्तु यदि इसमें मोक्षानुरागियोंकी सहानुभूति भी मिल गयी, तब तो मैं सर्वथा कृत-कृत्य ही हो जाऊँगा। तथास्तु।

श्रीनगर-वेतिया,
द्वितीय चैत्र क०३, सं० २००२।

{

मुमुक्षुपाकांक्षी—
नन्दकिशोर भा
३१-३-१४५।

×

×

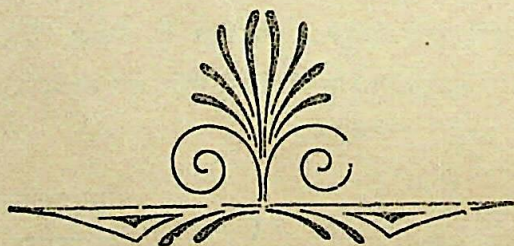
×

कुछ इधर आकर केनोपनिषद् के आधार पर 'देव-इर्ष-इलन' नामक 'एकांकी' नाटक में 'ग्राम-सभा' में अभिनय के लिए लिखा था तथा आगरे के 'प्रगति-प्रकाशन' की साँग पर 'गिनेचुने एकांकी' संकलन के लिए 'कविता: अरुन्तुद व्याधि' भी लिखा है। संकलन प्रकाशित न हो सका ! अतएव इन दोनों एकांकियों को भी साथ ही साथ इस पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि यह कम पाठकों को अरुचिकर कथमपि न होगा।

श्रीनगर-वेतिया,
माघ क० १०, मं०, सं० २०२५ वि०।

{

नन्दकिशोर झा
२८-१-१९६६ ई०



श्रीहरिः

भर्तृहरि-वैराग्य नाटक

प्रथम अङ्क

शीतलता-हित धरी शीशपर अति आदरसे चन्द्रकला है,
गङ्गा अङ्गोत्ताप - तापिता भागी शिरसे भय-विकला है;
विष पी लिया प्राण देने को ताप-भीत उरतक न समाया,
सती-वियोगी शिवको शमने शान्त किया, वह नाशे माया ।

[नान्दीके वाद]

सूत्रधार— बहुत कहनेसे क्या लाभ ? अहा ! आज
त्रिभुवन-वटवृक्षके बीज - स्वरूप भगवान् भूतनाथ भैरवेश्वरकी
यात्रामें बहुतसे भक्त ज्ञानी सज्जनोंका समाज एकत्र हुआ है। इस
लिए हम मैथिल कवि श्रीहरिहरोपाध्याय-विरचित शान्तरस-प्रधान
भर्तृहरि-वैराग्य नामक नाटकके द्वारा उनका मनोरंजन करना
चाहते हैं। अतः आपलोग सावधान हो जायें। क्योंकि—

मिलन-वियोग राग-द्वेषादिक भावोंसे ही भरे पड़े,
शृङ्गारादि रसों के अगणित ग्रन्थ बने हैं बड़े - बड़े;
अन्त-विरस वे सभी क्षणिकरस क्षण - सुखदायक रहें कहीं,
ब्रह्माद्वैत-सुखात्मक-शाश्वत-परम - शान्तिप्रद - शान्त यही ।

इसलिए तबतक गृहिणीको बुलाकर प्रयोगमें प्रवृत्त कराना हूँ ।
(नेपथ्याभिमुख होकर) आर्ये, इधर आ इधर ।

नटी— (प्रवेश करके) आर्य, यही मैं आ गयी ।

सूत्रधार—(देखकर) आर्ये, क्यों उद्विग्न-सी जान पड़ती हो ?

नटी— बहुत देरसे तुम बाहर चले गये थे, इसीसे उद्विग्न हूँ ।

सूत्रधार— आर्ये, किसी ज्योतिषीसे सुने हुए कुछ प्रतिकूल ग्रहोंको शान्त करानेके लिए जप करनेवालोंको खोजने गया था ।
इसीसे विलम्ब हुआ ।

नटी— क्या वह काम हो गया ?

सूत्रधार— और क्या ?

कान्ते, शान्तिक कर्मकर मैं आया तब पास;

जैसे राजा भर्तृहरि भानुसतीके पास ।३

(दोनों निकल गये)

प्रस्तावना

[तब तुरत आया हुआ राजा, उद्वेग-युक्त भानुसती और विभवके अनुसार परिवारका प्रवेश होता है ।]

राजा— (रानीकी ओर ध्यानसे देखकर) निश्चय यह अपने मनमें ऐसा सोच रही थी ।

‘मुझसे होकर अलग न लगता इनका मन है,
जूममें या मृगयामें या जहाँ स्वजन हैं,
तो क्या उनका आज फैसा सहसा चल मन है ?
किसी चपलनयनामें जिसका अनुपम तन है !’४

[मानों दूसरी दृष्टि (भाव) से]

बहुत समयसे हँसी नहीं है जिसपर आयी,
मौहें भी हैं झुकी शिथिल देती दिखलायी,
आन्तर चिन्ता-ताप हृदय जो कुछ सहता है;
भानुसतीका प्रभाहीन मुख सो कहता है ।५
(पासमें जाकर) प्रिये, उदास क्यों दिखायी देती हो ?
प्रिये ! तुम्हारे गुणोंसे चिरक्रीत यह दास;
चिन्ता क्या पहुँची यहाँ ? मन क्यों हुआ उदास ? ६

[यह कह आलङ्घन करनेकी चेष्टा करता है ।]

भानुसती— मैं आर्यपुत्रके योग्य नहीं ।

राजा— यह क्या कह रही हो ?

गृहिणी, गृहमें नियति - स्वरूपा तुम नवनिधि हो,
कुल की नित कल्याणकारिणी सकल सिद्धि हो,
चारु - चन्द्रिका सुधावर्षिणी हो लोचन की,
नन्दन - चन्दन - राशि हमारे तापित तन की,
शुभ-शय्या की रति - शान्ति हो, मनकी सहज-समाधि हो;
मेरी काया - माया सभी हो, क्या हो न ? तुम्हीं कहो । ७
और भी—

पाता लख तब कान्ति-कौमुदी-मुद सम लोचन,
अङ्ग - सङ्ग तब चन्द्रकान्तमणि है दुखमोचन;
सुधा - धार तब वाणी से प्राणी यह पाता,
पुण्य-प्राप्य क्या और ? भवन सुरपुर-सम भाता ! ८

भानुसती— आर्यपुत्र, प्रायः यह सत्य नहीं । नहीं तो आप
निर्दय बनकर इतना समय अन्यत्र क्यों बिताते ? क्या आर्यपुत्र

यह नहीं जानते कि आपका क्षणमात्रका वियोग भी मेरे जीवनके लिये असह्य है ? (रोती है ।)

राजा— देवि, सान्त्वना रखो सान्त्वना । किसी ज्योतिषीके बताये हुए प्रतिकूल ग्रहोंकी शान्ति करवानेके लिए मैं यहाँ से गङ्गा-किनारे गया था और वहाँ ब्राह्मणोंकी परतन्त्रतामें मुझे ठहर जाना पड़ा; किन्तु इसका कारण निर्दयता नहीं है । देखो—

रसिक - निशाकर स्वकर से आलिङ्गन भरपूर,
विमुद - कुमुदिनी का स्वयं कर सकता क्या दूर ?
यदि न मदनिके ! आ पड़े बाधक दुर्दिन रोग,
कुटिल-काल-गतिसे विधुर विधि-नियोग कुवियोग ! ६

भानुमती— आर्यपुत्र, वह स्नेह दूसरे प्रकारका है, जिसमें प्रियविरहिणी कैरविणी आँखोंको मँदकर दिन बिताती है । अथवा मेरे समान फिर भी प्रियदर्शनकी प्रत्याशासे ही जीती रहती है ।

राजा— हाँ, यह ऐसा ही है ।

प्रायः प्रियतम - विरह - विधुर दुर्बल द्रुतगन्तुक,
प्रणयि-प्राण आशावश ही रहते हैं कुछ रुक;
होता ऐसा नहीं अगर तो कैसे रहती ?
जीवित रवि से हीन कमलिनी अति दुख सहती !

किंवा विधुविधुरा कुमुदिनी धरती जड़ जीवन कहाँ ?

नित प्रणय-परवशोंके लिए आशा ही जीवन यहाँ । १०

[नेपथ्यमें कोलाहलके साथ बाजेकी आवाज सुनायी देती है ।

दोनों झरोखेसे झाँकते हैं ।]

राजा— (आश्चर्यके साथ) देवि, आप तो जीत गयीं; क्योंकि यह सती होनेके लिए मृत स्वासीके पीछे जाती हुई विरहाम्रि

को न सह सकनेके कारण चिताग्नमें प्रवेश करनेकी इच्छा करती हुई कुलकामिनियोंके प्रणयको कोई अकथनीय सहन्त्य प्रदान करा रही है ! धन्य है !

तुम सतियोंके पति - प्रणयकी महिमा कैसी !

जिससे बनती चिता कुसुम की शय्या जैसी !

बह्निज्वाला बन जाती हिम - चन्दन - शीतल !

ऋकाल भी बना क्लिप्तता वालक केवल !११

भानुमती—आर्यपुत्र ! यह भी इन लोगोंके प्रणयका समुचित विधान नहीं, जो सद्यःप्रज्वलित विरहानलको त्यागकर चितानलकी अपेक्षा की जाती है ।

राजा— (आत्मगत) अहो ! इसका यह निश्चय तो बहुत दूर तक बढ़ गया है ! अथवा यह भी एक प्रवञ्चना ही है ।

ये ही फैलाये गये युवतीजन के जाल;

युवजन जिनमें बँधे हैं हरिण-तुल्य बेहाल !१२

(प्रकाश) देवि, तुम्हारा यह कैसा निश्चय है ?

भानुमती—आपके विरहको न सह सकनेवाले मेरे हृदयका यह निश्चय ही है ।

राजा— (आत्मगत) तो इसकी जाँच होनी चाहिये । ऐसा ही हो । शिकारमें जाना ही है । (प्रकाश) देवि, बहुत देरसे शिकारके लिये तैयार होकर सैनिक लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं । इसलिये अब आप मुझे जानेकी आज्ञा दें । मैं वहाँसे शीघ्र ही लौटकर आपका यथेष्ट सत्कार करूँगा ।

भानुमती— (आँखोंमें आँसू रोककर) निश्चय मैं इसमें समर्थ नहीं हो सकती ।

[१८]

[राजा वहाँ से धीरे-धीरे निकलते हैं ।]

भानुमती— (आँसू गिराती हुई राजाके पीछे-पीछे चलकर)
तबतक मैं द्वार पर की चौखटके सहारे खड़ी रहकर आर्यपुत्रके
आनेका मार्ग देखती रहूँगी । (सब निकल जाते हैं ।)

[प्रथम अङ्क समाप्त]

द्वितीय अङ्क

[परदा हटाकर प्रवेश करके विलाप करती हुई]

चेटी— (छाती पीटती हुई) हाय ! मैं अभागी मारी गयी !

दूसरी— सखी, यह अन्तःपुरमें कैसा कोलाहल हो रहा है ?

पहली— (विलाप करके) सखी, हमलोगोंकी सभी इच्छाओं
की पूर्ति करनेवाली, इस नगरी की चूड़ामणि, बन्धुहृदयोंकी
अभिलषित कल्पलता, महाराजकी हृदयानन्ददायिनी वह महारानी
महाराजका व्याघ्र-द्वारा मिथ्या मरण सुनकर सहसा शान्त हो गयी !

दूसरी— (काँपती हुई आँखोंमें आँसू भरकर) हाय ! किस
दुष्टने यह बात प्रकाशित की ?

पहली— महाराजके पाससे आये हुए दुराख्यायी द्वारा ही
यह बात कही गयी थी, पीछे 'यह मिथ्या है' ऐसा कहने पर भी
महारानी होशमें न आ सकी !

दोनों— (करुण स्वरमें अत्यन्त आदर के साथ)—

मिथ्या भी प्रिय मरण सुन तुमने कर तनु-त्याग,
कीर्ति-पताका-युक्त वर प्रकट किया अनुराग ! ?

[नेपथ्यमें कोलाहल]

दोनों— हाय ! इस समय महारानीको नगरीसे बाहर ले जा रहे हैं और यह दुराख्यायी शिकारसे लौटे हुए महाराजके ही पास जा रहा है । इसलिए हम दोनों भी देवीका अन्तिम अनुगमन करके अपनेको उन्मृण करें । (दोनों निकल गयीं)

प्रवेशक

[तब शिकारसे लौटे हुए परिवारके साथ राजा प्रवेश करता है ।]

राजा— (बायीं आँखका फड़कना सूचित करके)—

नहीं हिताहित निज स्वयं जो पाते जन जान;
स्फुरणों से जड़ अङ्ग ये करवाते तद् - ज्ञान !२

(चिन्ता और उद्वेगके साथ) निश्चय यह बायीं आँखका फड़कना मेरी दुष्ट मन्त्रणाके बुरे विपाकमय फलकी सूचना दे रहा है । जैसेकि—

‘ प्रिय - विरहित हत प्राणों का होगा तत्क्षण क्षय, ’
रहा प्रणयिनी - प्रणयाकुल मनका दृढ़ निश्चय;
इस गुण में यदि मिथ्या दोषारोप किया है !
मुझ कुमूर्ख ने तो प्रतिफल भी उचित लिया है !३

[प्रवेश करके काँपता हुआ]

दुराख्यायी पुरुष— महाराज ! महारानीके... (यह आधा वाक्य कहकर वाक्यस्तम्भका नाट्य करता है ।)

राजा— अरे ! दुराख्यायिन् ! क्या महारानी के ?

पुरुष— महाराजके द्वारा मुझे जो कहनेकी आज्ञा मिली थी, वही वाक्यके द्वारा महाराजका मारा जाना मेरे मुँहसे सुनते ही उनके..

राजा— (खेद तथा वितर्कके साथ)—

क्या देवीका होश (चित्त) हुआ मूर्च्छा से मूर्च्छित !

पुरुष— आपकी राह देखनेके लिए द्वारकी चौखटके सारे खड़ी हुई के ही

राजा— (आँखोंमें आँसू और वाणीमें गद्गदता लिये) क्या कहनेके लिये तैयार हो ?

या मुक्त हत का हुआ जगत्त्रय तम से पूरित !

पुरुष— और क्या ? फिर न लौटनेवाले प्राण निकल गये !

[राजा संज्ञाशून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है ।]

पुरुष— (उन्हें उठाकर) महाराज सान्त्वना रखें ।

राजा— (कुछ होशमें आकर)—

निकले केवल श्वास नहीं मृदुतनु के तन से ,

उत्सव सारे गये भर्तृहरि हतक - भवन से !४

[फिर भी मूर्च्छित होकर गिरता है । परिजन लोग उन्हें उठाते हैं ।]

राजा— (बहुत देरके बाद होशमें आकर) कैसे वे वे कोमल विलास यहाँ से निकल ही गये ! हाय !

क्या वे लोचन हो गये तादृश दर्शन - हीन !

उसका मुख भी दुखद अब स्मित-विहीन विमलीन !५

(उत्कण्ठित होकर) बताओ इस समय मेरी रानी कहाँ हैं ?

पुरुष— लोगोंको उन्हें नगरसे बाहर ले जाते हुए मैंने देखा है ।

राजा— (खंदके साथ) क्या महारानी को चितापर जलाने का बन्धुओं का उद्योग हो रहा है ! (पागल के समान दौड़ते हुए, क्रोध से) हाय ! हाय ! ऐसा मत करो ।

उसके स्निग्ध - शिरीष - सुमन - शुभ - शिखा - सुकोमल

अङ्गालिङ्गन योग्य नहीं यह चिता समुज्ज्वल ;

भुज जकड़ी मम गोद पड़ी को आग न लेगी,
स्नेहोद्धत मम मदन - ज्वलन में तन होमेगी ।६

[धूमकर और देखकर]

चिता-प्रान्त से अर्द्धदग्ध शव खींच रहे जम्बुक सोल्लास,
उनके भीषण फेरव से हैं पाते जहाँ गृध्र - गण त्रास;
विषम धूम-दुर्गन्ध आँख नाकों का करता सत्यानाश,
मेरी गृहलक्ष्मी के रहने की न जगह यह प्रेतावास !७

[मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है । नेपथ्यमें कोलाहल होता है ।]

परिजन — (राजाको उठाकर) ये आपके बान्धव-गण
शोकविकल महाराजकी दूसरे प्रकारकी अवस्था देखकर रोते हैं ।

राजा— क्या बन्धुवर्ग अभी भी भर्तृहरिको जीता ही
जानते हैं ? अरे ! रे !

जिसने सुन मम मृपा मरण भी रक्त वसन - सा
वृण से भी अति तुच्छ जान तन त्यागा सहसा;
उसकी तार्त्त्विक मृत्यु देख भी जो तन धरता,
जानो वह हतभाग्य भर्तृहरि भी द्रुत मरता । ८

(आगे बढ़कर नेपथ्यकी ओर देखता हुआ करुणासे कातर होकर)
महारानी ! यह क्या हुआ !

कुङ्कुम से भी कम होती जिसकी सुकान्ति थी,
माला-मेलन से भी बढ़ती परिश्रान्ति थी,
शिशिर-सूर्य से भी तन तप जाता था जिसका,
हाय ! हाल हत होता सम्प्रति कैसा उसका !
द्रुत-दाहक-प्रज्वल-ज्वलनकी ज्वाला जलती है जहाँ !
अति-दारुण-दारु-रचित-चितापर तुम सोओगी वहाँ !९

परिजन— (नेपथ्यकी ओर देखकर) कैसे यह महामन्त्री
देवतिलक भी आ गये ।

देवतिलक— (प्रवेश करके) महाराज ! सान्त्वना रखिये ।

राजा— कैसे सान्त्वना रखी जाय ?

तजकर मुझ हतभाग्य को देकर दुर्दम-शोक ,

प्रिया - सहित ही सान्त्वना चली गयी परलोक !

उसके पीछे गये भी प्राणोंको धिक्कार !

वारणका दुर्दैवके यों अब कौन प्रकार ? १०

और भी दुःखका कारण यह है कि मैंने स्वयं ही प्रियतमाकी परीक्षा
करते हुए अपने ऊपर यह महाविपत्ति ले ली है । जैसे कि—

स्वयं खोदकर कूप गिरा उसमें अन्धा वन !

किया स्वयं ही धरकर विपथरका मुख चुम्बन !

निर्दय हो निज गरदन पर तलवार चलायी !

घर में सोकर स्वयं द्वार पर आग लगायी ! ११

देवतिलक— महाराज, बड़े लोग बड़े-से-बड़े दुःखके कारणमें
भी मनको शान्त करके सान्त्वना रखते हैं ।

राजा— अणु भी कोई अगुण अगर गृहिणी में होता,

तो मन होता स्वयं शान्त, यह जन क्यों रोता ?

वैसा गुण तो दूर, न उसका अंश मिलेगा !

आजीवन फिर क्यों न हतक यह आह भरेगा ? १२

देवतिलक— महाराज, तो भी विपत्ति में धैर्य ही धरना चाहिये ।

राजा— मुझ अधन्य का धैर्य भी अधुना है ध्रुव शूल;

ऐसे प्रिया-वियोगका वनता जो प्रतिकूल ! १३

(शवकी अरथी देखनेका नाट्य करके उन्मादपूर्वक) देवि ! देवि !

[२३]

था अगाध हम दोनों का जो प्रणय-सुपारावार ;
 सुमुखि, गयी हो तुम तो सुखसे सहसा उसके पार;
 हुई धन्य तुम मुझ अधन्य का विषम-विघ्न सञ्चार !
 इसमें डूबा प्रवल पा रहा केवल मोह अपार ! १४
 हाँ ! देवि !

पद्मानि ! अनङ्गमय मङ्गल कला की भूमि
 सुपमात्सम्भारभूमि तू थी बनी आज ही !
 ऐसी तू चल भी बसी विक्रम - उर्वशी - तुल्य,
 दारुण विदारण हृदय की बनी आज ही !
 सारे वर उदार सुखसार भोग भाग्यों का
 भागी भव-विभूति का बना था मैं आज ही,
 हा ! हा ! गृहत्यागी वैरागी भाग्य सुखसे हीन
 श्रीविहीन लोक से बहिर्गत हूँ आज ही ! १५

[नेपथ्य में]

महाराज ! महारानीके अग्निसंस्कारकी आज्ञा दी जाय ।

राजा— (सुनकर) हाय ! ऐसा उद्योग न किया जाय !

(फिर अत्यन्त क्रोधके साथ) क्या हमारे रोकने पर भी बान्धवगण
 ऐसा ही करने को उद्यत हैं !

देवतिलक— महाराज ! नियमका ऐसा त्याग न किया जाय ।

राजा— यह नियम का त्याग ही होगा ?

मुझ विधि-हृत के साथ अगर तुम ऐसा करना !

चाह रहे हो प्रियादेह को चित्ति पर धरना !

तो मैं निश्चय नहीं हृदय को रोक सकूँगा,

उसमें ही इस समय समाकर साथ मरूँगा ! १६

[२४]

[पागलके समान चिताकी ओर दौड़ता है ।]

देवतिलक— हाय ! अब हम लोग भी जाकर किसी तरह राजा को पकड़ें ।

[सब उधर ही दौड़ते हैं]

॥१॥ द्वितीय अङ्क समाप्त ॥१॥

तृतीय अङ्क

[प्रवेश करके]

कञ्चुकी— (लड़खड़ाने का नाट्य करके) हाय ! बुढ़ापा और शोकसे व्याकुल मुझको अब मेरी लाठी भी रोक नहीं सकती । क्योंकि—

सहज जरा से पराभूत है मेरी काया !

स्वामि-शोकने आज इसे है और कैपाया !

अब उस शोक - विकार - शमन - हित अतिव्याकुलतन ।

सम्प्रति किस से पा सकता कुछ भी अवलम्बन ? ?

(कष्टसे उठकर) तबतक इस योगीका राजाका शोक हटानेका प्रण जाकर मन्त्री से कहता हूँ । (घूमफिरकर देखकर) क्या यही मन्त्री हैं ?

[प्रवेश करके]

देवतिलक— (चिन्तायुक्त)—

अहह ! परस्पर प्रणय - पथ का कैसा यह अन्त !

मरणोत्सुक नृप का हटे कैसे शोक दुरन्त !

कञ्चुकी— (पासमें जाकर) महामात्य ! यह एक-योगिराज महाराजका शोक हटानेका प्रण करते हैं ।

देवतिलक— (आनन्द से) अच्छी बात है ! ऐसा ही होना चाहिये । राजा यहाँ हैं, मैं जाकर योगिराजको देखता हूँ ।

(दोनों निकल गये ।)

विष्कम्भक

(उसके बाद उन्मादावस्थामें राजाका प्रवेश होता है ।)

राजा—प्रियतमे ! काशीराजकुमारी !

प्रिये ! तूने त्यागे प्रणयि-मरना प्राण सुनके,

त्रिलोकीमें फैला यश युवतियोंका यह महा !

अतः छोड़ूँ काया यदि न अब मैं तो अयशकी,

वजेगी ही भारी युवकजनके दुन्दुभि यहाँ ! ३

और अब यही मेरी सबसे बढ़कर अभिलाषा है कि तुम्हें अपने अङ्गमें मुलाकर मरूँ और इसी अन्तिम ध्यानके संस्कारवश दूसरे जन्ममें भी तुम्हारा साथ पाकर सनाथ होऊँ ।

[नेपथ्यमें]

हाय ! मेरी कड़ाही ! कहाँ गयी मेरी थाली ! हाय दुर्दैव ! तूने अत्यन्त प्रतिकूलताके कारण मुझे छोड़कर मेरी कड़ाहीको नष्ट कर दिया ।

[विकल होकर रोता है ।]

राजा— (ध्यानसे सुनकर) ओह ! यह मेरे ही जैसा कोई अत्यन्त शोकसे पीड़ित होकर आर्त्तनाद कर रहा है ! अच्छा, मैं जाकर देखता हूँ ।

[आगे बढ़ता है ।]

(परिजन उसके पीछे-पीछे चलते हैं ।)

राजा—कैसे यह योगी फूटी हुई मिट्टीकी कड़ाहीके लिये

इतना शोक करता हुआ पृथ्वीपर बार-बार गिर रहा है। अच्छा, मैं इसको सान्त्वना देता हूँ।

(तब यथानिर्दिष्ट योगीका प्रवेश होता है।)

राजा— योगी जी, आश्वासन रक्खो।

योगी— (लम्बी साँस खींचकर) हाय ! जिसकी (मेरी) दूर देश तक साथ भ्रमण करनेवाली चिरसहचरी अनेक गुणों की खान कड़ाही फूट गयी ! उसके लिये आश्वासन कैसा ?

राजा— (दयाके साथ) (आत्मगत)

प्रियतर लघुतर वस्तु का भी दुखदायी नाश;

फिर ऐसी आपत्ति में हम - से हों न उदास ?४

तथापि मैं योगीको प्रबोध देता हूँ (प्रकाश) योगी जी ! इस फूटी हुई मिट्टीकी कड़ाहीके लिए इतना परिताप क्यों करते हैं ?

योगी— (आँखोंमें आँसू भरकर) तुम कौन निर्दय होकर ऐसा बोल रहे हो ? अथवा तुम इसके गुणोंसे अनभिज्ञ हो !

राजा— इसके कौन-कौन गुण थे ?

योगी— हाय ! कितने गुण गिने जायँ ? तथापि कुछ बतलाये जाते हैं।

कभी कण्डे लाती दुख सह उठाती अनल भी,
जुगाती थी मिट्टा सुखकर पिलाती जल कभी;
पकाती थी खाना शयन - तक्रिया हो गुणवती
सुलाती प्यारी थी वह मम सुचिन्तामणि सती।५

राजा— तुम्हारा कहना ठीक है।

प्रेष्ठ वस्तुके गुणों को गिन सकता है कौन ?

सब सुख-साधन स्नेह से वहीं बनाते भवन।६

तथापि जिसके वचानेका कोई उपाय नहीं, ऐसी वस्तुके नष्ट हो जाने पर पश्चात्ताप करना व्यर्थ है।

योगी— मैंने ही इसकी दृढ़ताकी जाँच करना हुआ इसे पटक कर फोड़ दिया है— यही महान् सन्ताप है !

राजा— (खेदके साथ) स्वयं ही नष्ट की हुई प्रिय वस्तुके विषयमें सन्तापका अन्त नहीं होता। क्योंकि—

जिसका कोई लक्ष लाख मन होता उद्भ्रान्त ;
उसे स्वयं ही नष्टकर कौन रहेगा शान्त ?७

(आँसू गिराकर धैर्यके साथ) तथापि योगी जी,
अवितव्यता समर्थ सभी को नित्य मिलाती,
प्रिय वा अप्रिय वस्तु तथा उसको विलगाती;
जगका सारा कार्य किया होता है उसका,
फिर क्यों मानें यहाँ किया कुछ दोष पुरुष का ?८
(योगी कुछ न सुनता हुआ कड़ाहीके खपड़े को हृदयपर धरकर रोता है ।)

राजा— योगी जी, रोना व्यर्थ है। मैं इससे भी अच्छी मिट्टीकी या चाँदी अथवा सोनेकी ही कड़ाही तुम्हे दे दूँगा।

योगी— (कानों पर हाथ रखकर) ऐसा पाप मत सुनाइये। रहने दीजिये चाँदी-सोने आदिकी कड़ाही; क्योंकि मिट्टीकी कड़ाही तो परिणाममें इतना अनर्थ उत्पन्न कर रही है। फिर सुवर्णादिमयी का क्या कहना ? और भी—

मदग्राह भयमकर क्रोधनक्रों से पूरित,
दुस्तर-द्वेषावर्त्ता लोभलवणों से युत नित,
चपल-चित्त-चाञ्चल्य-तरङ्गों को जो है निधि,
स्वल्प अर्थ भी बना अनर्थों का जब जलनिधि,

फिर महा मोहकी राशिसम रजत-स्वर्ण की क्या कथा ?

उस महाविपद में मग्न मैं अहह ! मरूँगा सर्वथा ! ६

एक बात और है—‘इससे भी अच्छी’—यह तुम मिथ्या कह रहे हो । निश्चय यह जैसी छूनेमें चिकनी, सुन्दर आकृतिकी, गहरी, चौड़ी तथा सुदृढ़ थी; वैसी दूसरी कहाँ मिलेगी ?

राजा— (शोकके साथ)

अधिकाधिक गुणयुक्त वस्तु वह मिलती जन को ,
किन्तु प्रेमवश वही ताप देती अति मन को ; १०

योगी जी,

परमप्रिय मम यही — वस्तु यद्यपि साधारण ,
गुणाचिवेकी स्नेह - मोह ही इसका कारण । ११

योगी— ऐ मूर्ख ! केवल स्नेह ही कारण नहीं । शरीरका निर्वाह भी तो इसके रहनेसे ही सम्भव है (था) ।

राजा— तो फिर यह पात्र इस समय नष्ट न होकर भी कितने कालतक स्थित रहता ?

कोटिकल्प शतकल्प अगर या पूर्ण कल्पभर ,
अथवा आधा कल्प-वस्तु यह यदि रहती स्थिर ,
तो इसका कुछ सोच उचित होता यह ऐसा ;
होगी जो द्रुतनष्ट, शोक यह उसका कैसा ? १२

शरीर-निर्वाहक के विनाश से भी पश्चात्ताप करना व्यर्थ ही है;
क्योंकि—

जिन चीजों को मनुज जानते निज तन - हितकर,
उनका तनिक अभाव ताप उपजाता दुस्तर ;

तनुपोषक ही वस्तु परम प्रिय — यह भी भ्रम है,
सब दुःखों का मूल देह ही दुःखद कम है ?

इससे ही सुखभ्रम में पड़ा मूढ़ जीव क्षण काटता,
मृतमातृक बालक हाथ का लगा दूध ज्यों चाटता ! १३

योगी— तथापि अप्रिय वस्तु को छोड़कर सारा संसार प्रिय
वस्तुकी ओर क्यों प्रवृत्त होता है ?

राजा— महामोहके कारण ही; देखो—

प्रिय-विषयों की सुन्दरता से जैसे जन सुख पाता है,
वहीं-वहीं उनकी विपदा से वैसे ही धवराता है;

कभी वस्तु अप्रिय भी सुख-दुःख संपद-आपद लाती है,
महामोह की महिमा ही प्रिय-अप्रिय वस्तु बनाती है ! १४

योगी— यह ठीक समझा जा रहा है; तथापि कोई प्रतीकार
नहीं, इससे मेरा हृदय दुखी हो रहा है ।

राजा— यदि वस्तुस्थितिका विचार होते हुए भी वह शोक
को रोकनेके लिये पर्याप्त न हो, तो फिर दूसरा उपाय ही क्या हो
सकता है ?

योगी— इस विषयमें मरना ही उपाय है; क्योंकि जब मैं
इसको हृदय पर धरकर मरूँगा, तो दूसरे जन्ममें इसके साथ
रहकर सनाथ होऊँगा ।

राजा— (मुसकुराकर) यही तो वह महामोह इस संसार का
मूल है; जिसके ऐसे-ऐसे दुःखमय अनेकों खेल हो रहे हैं ।

योगी — (ठहाका मारते हुए हँसकर) —

मूढ़ों का पाण्डित्य यह पर — उपदेश — निमित्त !

दीप स्वयं तम लिये ज्यों अन्य-ज्योतिप्रद नित्य ! १५

[राजा लज्जित होकर शिर नीचा किये सोचने लगता है ।]

योगी— राजन् ! क्या सोचते हो ?

राजा— भगवन् ! दूसरा क्या सोचूँ ? पूज्यपाद सिद्धराजने मेरे ही वाक्यों से मुझे उपदेश देकर मेरा यह दुर्दमनीय शोक निःशेष हटा दिया !

योगी— यह ठीक ऐसा ही है । भगवती विन्ध्यवासिनी देवी का दर्शन कर लौटते हुए मैंने तुम्हारी ऐसी शोचनीय दशा सुनकर स्वभाव-सुलभ करुणाके कारण तुम्हें यह प्रबोध दिया है ।

राजा— इससे मैं अनुमान करता हूँ कि आप सिद्धराज गोरखनाथ जी होंगे ।

योगी— हाँ, मैं वही हूँ ।

राजा— भगवन् ! आप धन्य हैं कि मुझे इस अन्धकूपसे निकाल लिया ! (यह कहकर उनके पैरों पर गिर पड़ता है ।)

[गोरखनाथ जी उसे उठाते हैं ।]

राजा— (हाथ जोड़कर) इसके बाद जो कुछ बतलाना आवश्यक हो उसका गुरु महाराज उपदेश करें; जिससे फिर मैं ऐसे अनर्थमें न फँसूँ ।

गोरखनाथ जी— बहुत अच्छा, उत्कट दुःखानुभव-रूपी फाल से जोती हुई तथा वस्तुविवेक-रूपी जलसे सींची हुई तुम्हारी चित्तभूमि विज्ञानबीज बोनेके योग्य हो गयी है । सुनो—

सङ्कल्पसात्र से है यह सारी सृष्टि बनी अज्ञानमूल,
तुम मुक्ति चाहते हो इससे तो नाशो इसका मोड़मूल;
जो अनवच्छिन्न देशकालों से नित्य ब्रह्म सच्चिदानन्द,
है तत्त्व, तत्त्व वह सोचो तुम ध्रुव पाओगे पद परानन्द । १६

राजा— भगवन् ! मैंने आशा-परम्पराके सभी सङ्कल्पनिश्चय छोड़ दिये । धन्य है, धन्य है ।

जिनका कुसुमामोद दिशाओं में फैलाता मोहप्रसाद,
महापतनकारक है जिनके पके फलों का कुछ आस्वाद;
वनविपलतासमान उन्हीं आशाओं का करके उच्छेद,
यहीं बना विजयी, पाऊँगा मोक्ष वाद में है क्या खेद ? १७
किन्तु यह तत्त्वचिन्तित और अधिक कैसे हो ?

गोरखनाथ जी—

विषयों से मन खींचकर करो शून्य-विनिवेश;
स्वप्रकाश आनन्दमय होगा आत्म-प्रवेश । १८

राजा— वही हो । निकटके ही इस निर्जन उपवनके एक स्थानमें जाकर मैं यह तत्त्व-चिन्तन करता हूँ ।

[सब निकल गये ।]

॥३॥ तृतीय अङ्क समाप्त ॥३॥

चतुर्थ अङ्क

[प्रवेश करके]

देवतिलक— (आनन्दके साथ) यह योगी महाराजको श्मशानसे उपवनमें ले आया—यह बड़ा उपकार किया । इसलिए मैं भी वहीं जाता हूँ । (घूम-फिरकर और देखकर) अहा, यही योगीके साथ बैठे हुए महाराज कुछ ध्यान कर रहे हैं । इससे जान पड़ता है कि निश्चय रोके हुए बड़े भारी शोक की तरंगें महाराजके बाह्य इन्द्रियोंको इस तरह निमीलित कर रही हैं । अथवा—

शोक-दाव-पावक-लपट से जलती उद्भ्रान्त,
इन्दिय को रोके बिना कौन बने कुछ शान्त ? ?

[उसके बाद यथानिर्दिष्ट राजा और योगीका प्रवेश होता है ।]

राजा— (ध्यानके अन्त होनेका नाट्य करके कुछ सात्त्विक विकारोंको दिखाते हुए आनन्दके साथ) भगवन्, किसी अनिर्वचनीय विज्ञान सुखास्यादका उदय हो रहा है !

गोरखनाथजी— अभ्याससे तुम पूर्णानन्दरूपसे उसीमें स्थित हो जाओगे । समय पर मैं अष्टाङ्ग हठयोगका उपदेश करूँगा ।

राजा— भगवन्, यह सहावर मिला ! (पैरों पर गिरता है ।)

देवतिलक — (आनन्दके साथ) इस योगीके द्वारा शोक हटाये जाने पर महाराज सानन्द दिखायी देते हैं । इससे अब अवसर मिला है । (निकटमें जाकर) महाराज, महारानीके अग्नि-संस्कारकी आज्ञा दी जाय ।

[राजा मौन ही रह जाता है ।]

देवतिलक — महाराज, कुछ उत्तर दिया जाय ।

राजा— (मुस्कराकर) इसका अवसर बीत गया ।

था मिथ्याहङ्कार प्रथम यह मेरा भारी—

मैं हूँ राजा प्रभु, मन्त्री तुम आज्ञाकारी;

वह समूल व्यामोह ज्ञानने आज नशाया,

गुरु-प्रसाद से सर्व-सिद्धियों को अब पाया ! २

इसलिये अब इसके बाद आपपर ही आज्ञा देने का भार है;
अथवा आपके राजकुमार पर ।

देवतिलक— (योगीके प्रति) योगी जी, यह तो उचित नहीं कि कालसर्पसे कटवाकर विच्छूके दंश-दोषको हटाया जाय ।

गोरखनाथ जी—मन्त्रिप्रवर ! उलाहना देना व्यर्थ है । शोक-
मुलभ वैराग्यसे राजाको रोको । मैं भी तुम्हारा अनुवर्त्ती बनूँगा ।

देवतिलक—महाराज ! यह क्या हो रहा है ?

गोपालन कर सर्वथा शत्रु-घास को जीत,
ओज-अनल से पाककर वर संविद - नवनीत;
सौख्य-सूप उपयुक्त यह आज्यतुल्य वर राज्य,
महाज्वरीसम क्यों हुआ राजन् तुमसे त्याज्य ? ३

राजा—कह ही दिया है कि इसका अवसर बीत गया । इस
समय तो—

अन्तर्दाही सन्निपातमय दुस्सह ज्वर से,
प्रस्त, दष्ट दुःसाध्य महाकुविषय-विषधर से,
मुझको अतिशय वान्ति क्लान्ति मूर्च्छा है आती,
मुक्ताजीर्ण-प्रयुक्त भोगरुचि अब न दिखाती,
सब जन के हित मधुमय सुखद प्राज्य विभव जो राज्य है,
जलते गृहसम मेरे लिये आज सर्वथा त्याज्य है । ४

देवतिलक—महाराज ! क्योंकि इतना सञ्चित वित्त भी
आपका चित्त आकर्षित नहीं करता ?

राजा—अन्य प्राणियों को पीड़ा दे जिसको पाते,
निज शरीर को सतत कष्ट दे जिसे वचाते,
स्वल्प व्यय भी मनोदुःख जिसका है करता,
उस धन पर हतभाग्य मूढ़ मानव ही मरता ! ५

देवतिलक—हाय अफसोस (खेद) है ! जिस अधन्य
निर्धनता को कोई नहीं चाहता, उसीको आप धन्य उपादेय
मान रहे हैं !

राजा—चोरों से चिन्ता नहीं, नहीं राजकुलत्रास,
खल से द्वेष-विहीनता, परिजन-क्षोभ-विनाश ।

मिले मुझे सन्तोषप्रद वह नैर्धन्य अथन्य;
तड़ित-तुल्य धन से बनें सुधी, आपही धन्य ।६

देवतिलक—महाराज, सुखसे प्राप्त हुई सर्वाधिकार रूपसे
हृदयामोदिनी मेदिनीका निरादर क्यों किया जा रहा है ?

राजा—क्यों निरादर किया जाता, यदि मैं भी इसका
वास्तवमें प्यारा होता ? देखो—

हा ! यह अनार्या बलवीर्य - आर्जवाद्युक्त
सुन्दर उदारको भी जार ही बनाती है !
संतत अनुरक्तों स्वभक्तों को विरक्त — तुल्य
क्षण में नशाती और उन्हें भूल जाती है !
रहने न देती अङ्कारुढ़ को भी भूपति - सा
पर प्रेयसी हो उसे निन्दित बनाती है !
नये - नये भोगियों को चाहती हुई भी नित्य
वारवनिता-सी ही विलासियों को भाती है !७

और भी—

विनय नम्रता से न कुछ भी प्रसन्न होती,
सीधे शुद्ध हृदयों की हँसी ही उड़ाती है,
वायुवेग तुरगों के खुरों से विदारित हो
विजयी बड़े वीरों से बैर ही बढ़ाती है;
इसी के लिए जो रणमें प्राणों को छोड़ते हैं
उनके लिये भी कब मातम मनाती है ?
छिन्न-भिन्न अङ्गों से निकले हुए रुधिरों को
चन्दन - सा लगाती निज छाती जुड़ाती है !८

देवतिलक—महाराज! अनेक जन्मोंके उपार्जित पुण्यों से प्राप्त हुआ यह राजपद कौन छोड़ता है ?

राजा— (मुस्कराकर)

अन्धे हुए दर्प से कन्दर्प के समान ज्यों
 राजा के पास रोग भय से नहीं आते हैं ?
 शङ्किता विपत्तियाँ क्या आतीं न उनके पास ?
 होकर सन्तप्त शोक भी क्या नहीं छाते हैं ?
 रुद्र या मृकण्डपुत्र - तुल्य उसे मारने में
 थोड़ी भी शिथिलता क्या अन्तक दिखाते हैं ?
 कारण पुनः क्या है ? जिससे राजपद को पा
 राजा लोग मन में अपार मद लाते हैं !६

देवतिलक— हाय ! खेद है ! ये रोते हुए बान्धवगण क्यों छोड़े जा रहे हैं !

राजा— जो वास्तवमें साधु-स्वभावके बान्धव होते हैं, वे परलोकपरायण परिजन पर परिणाम समझकर ही प्रेम करते हैं । किन्तु जो दूसरे स्वभावके हैं, वे तो—

नाश देखकर ऊपर से परिजन रोते हैं,
 पर मन में निज वृद्धि जान प्रमुदित होते हैं ;
 निन्दा करते हुए विभव सुख लेते जो हैं,
 वे ही हैं यदि बन्धु, कहो तो वैरी को हैं ? १०

देवतिलक— महाराज, यदि ऐसी ही बात है, तो भी यदि उन्हीं या दूसरे शत्रुओंसे यह अवनी आक्रान्त होगी तो कैसे सहा जायगा ?

[३६]

राजा— 'हमारे प्यारे ये सुत सुहृद, प्यारे हम इन्हें,'
विमूढ़ों की ऐसी मति भ्रम-भरी व्यर्थ रहती ।
हमारे ये सारे अब हत महामोह विनशे ,
यही जो-जो जानें हतमति, उन्हें क्या हम कहें ?११

देवतिलक— (खेदके साथ) हा ! राजलक्ष्मी ! तुम भी
नष्ट हुई !

राजा— नष्ट ही है यह अनेक अनर्थोंको पीछे लिए रहने
वाली । देखो—

कालकूट - कदुता लेकर मानों निकली है,
निम्नगामिता सहज वारि की लिए चली है,
वडवानल की भरी हुई इसमें उष्मलता,
क्षारसिन्धु की चपल तरङ्गों की चञ्चलता,
शुचिसुधा - मधुरता स्वल्प भी कल्पलता का दान है,
कुछ छुई नहीं शशिसुखदता ! यह लक्ष्मी अघखान है ?

और भी—

पतित हुआ हत नहुष राज्य पा देव - भवन से
शशि ने चाहा गुरुपत्नी को कलुषित मन से
'सहस्राक्ष वह कामी गौतम - गेह पधारा !
महाबली बलि पराभूत पाताल सिधारा !
सहचरी बना जर्जर तरी श्री को कारण नाशका !
भवसिन्धु-मध्य जड़ उपल-सा कौन पार है पा सका ?१३

देवतिलक— यह हो ; किन्तु परलोकमें हित करनेवाले
देवताओंके आराधनके साधन होने से लक्ष्मी कुछ सदर्थ भी अपने
साथ लिये रहती है ।

राजा—सच्चिद्वोधमात्रसे ही पूजनीय भगवान् नारायणके रहते हुए दूसरे देवताओंके आराधनसे क्या होनेवाला है? अधिक क्या कहा जाय?—

स्वाधीन-स्वामिका को चिन्ता अन्य पुरुषों की क्या?
भट्टी के रहते चिनगारी सुलगाते हैं?
चन्द्रमा के रहते खद्योत क्या प्रकाश देते?
राजा लोग गिरे हुए दाने वीन खाते हैं?
है गङ्गा जहाँ बहती वहाँ कूपों से होता क्या?
सुधा-सेवियों का क्या औपध कर पाते हैं?
है स्वात्मा परात्पर परमात्मा का ऐक्य जहाँ
वहाँ अन्य देवता क्या पूज्य रह जाते हैं? १४.

देवतिलक—हाँ महाराज, यह ऐसा ही है; तथापि यौवनकाल में विषयोंको भोग लेनेपर (इन्द्रियके शिथिल होनेपर) वृद्धावस्था में तृष्णाहीन हुए आपको ज्ञान सीखना सुलभ होगा।

राजा—(मुस्कराकर) 'विषयोंको भोग लेने' के बदले उसका उलटा 'विषयोंसे भोगे जानेपर' कहो। देखो—

भोगे जाते भोग — यही तो जनका भ्रम है,
मुक्त विषय की भी होती क्या इच्छा कम है?
मैं कहता — नर विषयों से ही भोगे जाते,
बूढ़े पेरे इक्षु — तुल्य नीरस विललाते! १५.

और भी—

विषय तथा विप में 'य' ही नाममात्र का भेद,
जैसे है वृष-वृषभ में केवल 'म' का विभेद। १६

एक बात और है—

[३६]

राजा— 'हमारे प्यारे ये सुत सुहृद, प्यारे हम इन्हें,'
विमूढ़ों की ऐसी मति भ्रम-भरी व्यर्थ रहती ।
हमारे ये सारे अब हत महामोह विनशे,
यही जो-जो जानें हतमति, उन्हें क्या हम कहें ?!?

देवतिलक— (खेदके साथ) हा ! राजलक्ष्मी ! तुम भी
नष्ट हुई !

राजा— नष्ट ही है यह अनेक अनर्थोंको पीछे लिए रहने
वाली । देखो—

कालकूट - कटुता लेकर मानों निकली है,
निम्नगामिता सहज वारि की लिए चली है,
वडवानल की भरी हुई इसमें उष्मलता,
क्षारसिन्धु की चपल तरङ्गों की चञ्चलता,
शुचिसुधा - मधुरता स्वल्प भी कल्पलता का दान है,
कुछ छुई नहीं शशिसुखदता ! यह लक्ष्मी अघखान है ?

और भी—

पतित हुआ हत नहुष राज्य पा देव - भवन से
शशि ने चाहा गुरुपत्नी को कलुषित मन से
सहस्राक्ष वह कामी गौतम - गेह पधारा !
महाबली बलि पराभूत पाताल सिधारा !
सहचरी बना जर्जर तरी श्री को कारण नाशका !
भवसिन्धु-मध्य जड़ उपल-सा कौन पार है पा सका ?!?

देवतिलक— यह हो ; किन्तु परलोकमें हित करनेवाले
देवताओंके आराधनके साधन होने से लक्ष्मी कुछ सदर्थ भी अपने
साथ लिये रहती हैं ।

राजा—सच्चिद्विधमात्रसे ही पूजनीय भगवान् नारायणके रहते हुए दूसरे देवताओंके आराधनसे क्या होनेवाला है ? अधिक क्या कहा जाय ?—

स्वाधीन-स्वामिका को चिन्ता अन्य पुरुषों की क्या ?

भट्टी के रहते चिनगारी सुलगाते हैं ?

चन्द्रमा के रहते खद्योत क्या प्रकाश देते ?

राजा लोग गिरे हुए दाने बीन खाते हैं ?

है गङ्गा जहाँ बहती वहाँ कूपों से होता क्या ?

सुधा-सेवियों का क्या औपध कर पाते हैं ?

है स्वात्मा परात्पर परमात्मा का ऐक्य जहाँ

वहाँ अन्य देवता क्या पूज्य रह जाते हैं ? १४ .

देवतिलक—हाँ महाराज, यह ऐसा ही है; तथापि यौवनकाल में विषयोंको भोग लेनेपर (इन्द्रियके शिथिल होनेपर) वृद्धावस्था में तृष्णाहीन हुए आपको ज्ञान सीखना सुलभ होगा ।

राजा—(मुस्कुराकर) ' विषयोंको भोग लेने ' के बदले उसका उलटा ' विषयोंसे भोगे जानेपर ' कहो । देखो—

भोगे जाते भोग — यही तो जनका भ्रम है,

मुक्त विषय की भी होती क्या इच्छा कम है ?

मैं कहता — नर विषयों से ही भोगे जाते,

बूढ़े पेरे इक्षु — तुल्य नीरस विललाते ! १५

और भी—

विषय तथा विष में ' य ' ही नाममात्र का भेद,

जैसे है वृष-वृषभ में केवल ' म ' का विभेद । १६

एक बात और है—

यदि यौवन में जारिणी वृष्णा हुई न नष्ट ;
जरा-सौत के सहित तो देगी अतिशय कष्ट । १७
देखो—

तोड़ डालती दाँतों को या दुखद हिलाती,
केश — कृष्णता नशा उन्हें श्रीहीन बनाती,
नयनों की वह सहज शक्ति दर्शन हर लेती,
आयु क्षीण कर तनु को भी जर्जर कर देती,
इस तरह जरा-ज्वर से पराभूत जीव को नाशती ;
सुख चतुर्वर्ग का नाश कर वृष्णा नित यौवनवती । १८
देवतिलक— हाय ! बड़ा कष्ट है ! महायोगिराज ! बताइये,
अब क्या उपाय किया जाय ?

गोरखनाथ जी— राजन् ! आओ मैं तुम्हारी वैराग्यबीज-
स्वरूपा प्रेयसीको अपने योग-बलसे पुनर्जीवित कर एकान्तमें उससे
तुमको मिलाकर तुम्हारा वैराग्य हटाता हूँ ।

[राजाका हाथ पकड़कर चले जाते हैं ।]

देवतिलक— (आनन्दके साथ) मैं भी यहाँ से हटकर यहीं
एकान्त स्थान बना देता हूँ ।

[सब निकल गये ।]

॥❀॥ चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥❀॥



पंचम अङ्क

[तब अंकान्तमें पुनर्जीवित भानुमती और राजाका प्रवेश होता है ।]

भानुमती— आर्यपुत्र ! मुझसे स्वयं खड़ा नहीं रहा जाता, इसलिए मुझे अवलम्बन दो । (यह कह उनके शरीरका सहारा लेनेके वहानेसे आलिङ्गन करना चाहती है ।)

[राजा उसे रोकते हैं ।]

भानुमती— (लज्जित होकर) क्या आर्यपुत्र भी मुझसे विमुख होना चाहते हैं !

राजा— विमुख ही समझो अथवा विमुख न भी समझो ।

भानुमती— मेरे शरीर का स्पर्श करना भी त्यागते हुए आप क्या विमुख नहीं कहे जा सकते ?

राजा— मम मरने पर आपका होगा प्राण वियोग;

अतः चाहता — मैं वनूँ अमर-सिद्धकर-योग । ?

भानुमती— (भयके साथ अत्मगत) निश्चय मुझे त्यागनेकी इच्छा रखते हुए ही ये ऐसा कह रहे हैं ! इससे महाखेद है, कैसे इन्हें रोका जाय ? अच्छा, तबतक ऐसा ही हो । (कुछ कोप-पूर्ण चञ्चल कटाक्षसे राजाको देखती है ।)

राजा— (अत्मगत)

कमललोचना के कटाक्ष ये दिखते कैसे !

परम कुटिल हैं कालकूटकटु विषशर जैसे !

जिन के क्षणभर गिरने से मोहित मेरा मन

महामोह में था निमग्न सन्तत तन - चेतन ! २

वास्तवमें यह कितना दुःसह आघात है !

मदनदुर्ग - तरुणीद्वग - निःसृत ये कटाक्षमय वाण ,
आँखों के सम्मुख आते ही व्याकुल करते प्राण !

अगर हृदयतक जाकर रुककर करदें दारुण घाव ,
तब विवेक वर वैद्यराज का लग सकता क्या दाव ? ३

भानुमती - (प्रसन्नताके साथ आत्मगत) अनुकूल समान
आर्यपुत्र दिखायी देते हैं ! (फिर भी मुँकुराहटके साथ देखती हैं ।)

राजा—(उधरसे दृष्टि हटाते हुए) अब यह दृग्भङ्गी व्यर्थ है ।

जभीतक उरका है आवरण

तामसी वह अचिरल मसिष्टि ;

तभीतक भाव भङ्गिसामयी

पुरुष को रुचती तरुणीदृष्टि । ४

भानुमती—(आँसू बहाती हुई) हाय ! दैव ! तेरा यह कैसा
परिणाम हो रहा है !

राजा—(निःस्पृह भाव से)

स्मित से चित्रित नेत्र पुरुष अब क्या समर्थ हैं ?

प्रेमालाप विलाप आज तो सभी व्यर्थ हैं ;

मैं हो भवभय - भीत महा अवसाद - युक्त हूँ ,

विषयस्वाद सब त्याग दिये, हत मदन - मुक्त हूँ ;

अब सभी कामनाएँ गयीं, मुझे साधना योग है ,

भद्रे ! तेरा मुक्तपर किया विफल सभी उद्योग है । ५

और भी—

वह रम्भा जड़ रम्भा है यदि आत्मदमन है ,

काम - धनुष क्या करे मेनका यदि हत मन है ,

वशी पुरुष के लिए उर्वशी भी हत क्या है ?

करे कामिनी क्या ? जिससे हारी साया है । ६

आनुमती—आर्यपुत्र ! यदि ऐसा ही है, तो जनकके समान घरमें रहते हुए भी आपके ज्ञानका निर्वाह सुलभ है ।

राजा—नहीं, ऐसी बात नहीं है । वे जनकादि महात्मा अनेक जन्मोंके संसिद्ध पुरुष जीवनमुक्तावस्थामें सर्वथा स्थित थे । किन्तु अपरिपक्वबुद्धिवाले हम जैसे पुरुषोंके लिये यह प्रकार उचित नहीं है । इसीसे—

चित्त मम गेह-कूप से आज

कृपा से गुरु की निकला कहीं;

जगत-यात्रा में फिर-फिर वहीं

फँसाऊँगा मैं उसको नहीं । ७

घरमें रहते हुए तो जानते हुए भी मुझसे ठीकसे आचरण कुछ भी न हो सका । जैसा कि—

नष्ट नष्ट को देखता इष्ट इष्ट ही नित्य ,

अन्त अन्त में बाँधता नव - नव आशा चित्त ।

छेद छेद जिनने किया जर्जर मेरा मर्म ,

दुःखभार मैंने लिया वही - वही कर कर्म ! ८

हाय ! धिक्कार और खेद है !

तप मैंने क्या किया ? तपाया केवल पर को !

कोप दोष से भरा, न सेवा जा भूधर को !

रातों में भी शान्तियुक्त रह सका नहीं मन !

था अच्युत व्यामोह न अच्युत का आराधन ! ९

(यह कह मुँह फेरकर चल देता है ।)

भानुमती— धूर्त्त ! मुझे त्यागकर कहाँ जाओगे ? (यह कह
चादर का छोर पकड़ लेती है ।)

[राजा उत्तरीयको छोड़कर आगे बढ़ता है । भानुमती दौड़कर
हाथ पकड़ती है]

राजा—(खड़ाहोकर क्रोधके साथ) अरी ! अनर्थोंसे भरी हुई !
नसों से कसी है, घने केशों से कराल भी है,
चमड़ी की गुदड़ी देह भाथी - सी भाती है ।
भीतर भरे मलों की तू बँधी पोटली-सी है,
आँख खोलने से अस्थि-मज्जा दृष्टि आती है ।
सर्वथा अनर्थों की कुराँश या परम्परा है,
बन्धन की रज्जु (डोरी) है तू मोह की सुधाती है ।
भानुमती, भानुमती की ही प्रिय पिटारी तू
तेरे गुण मेरी रसना न कह पाती है । १०

और भी—

बेघे को कोई करसे छूना भी न चाहते हैं,
स्थूल मांस कुच को छू क्यों न सकुचाते हैं !
पिकदानी पीक से भरी न कोई चूमते हैं,
वालास्य - चुम्बन में फिर क्या सुख पाते हैं !
भाथी का न कोई आलिङ्गन करते हैं कभी,
कामिनी की काया से क्योंकर लपटाते हैं !
नित्य नर करते हैं नरकपुरी से घृणा
मलमूत्र - भरी नारी से न कर पाते हैं ! ११

(यह कह हाथ छुड़ा लेता है ।)

[भानुमती रोती हुई राजा के पैरों पर गिर पड़ती है ।]

राजा— (खेदके साथ आत्मगत) हाय ! विषयोंका परित्याग करना बड़ा कठिन है !

इन्द्रिय को पत्थर - सदृश वज्रसार - सम चित्त,
किये बिना तज विषय को हुआ कौन कृतकृत्य ? १२

[प्रवेश करके]

देवतिलक— राजा कुछ शिथिल से जान पड़ते हैं, इससे कुछ करनेका यही अवसर है । (निकटमें जाकर) अब भी महारानी पर कृपा की जाय । हाय ! ऐसी पतिप्राणा महारानीका प्रणय सुख कैसे छोड़ा जा रहा है !

राजा— (पैरों को छुड़ाकर)

मोहमयी अज्ञान जनित कुछ ही हृदयाह्लादन करती,
अन्त विरसना-युक्त वियुक्ता महामोह उरमें भरती;
मधु-मधुरा वाला हालाहलबहुला जितना उपजाती-
भय, दुखदेती बहुत कालतक, उतना सुख न कभी लाती । १३

और भी—

धैर्य ध्वंस करती है, पानी-सी बहाती श्री को,
उन्माद-युक्त अन्तःकरण को बनाती है ।
पदपर गिरवाती है भारी अपराधी-सा,
अन्त में भी रति के घृणा ही उपजाती है ।
निद्रा न आने देती, परम प्रिय वान्धवों से
दे देकर मन्त्रणा विभक्त करवाती है ।
युवा को भी जराजीर्ण सत्वर बनाती वही,
तारी कहाँ पर न अरि-सी बन जाती है ? १४

भानुमती— हाय ! वेवे पारस्परिक परवशताकी क्रीड़ाएँ कहाँ गयीं ?

राजा — आया है मेरा यह प्रियतम यह प्रियतमा हमारी है ।
 प्रणयवृष्टि कर दृष्टि पुरुष की, नारीस्मित सुखकारी है;
 हम दोनों का प्रेम सुदृढ़ है, दावानल है स्वल्प-वियोग,
 यों ही महा उपद्रव कारक चला गया वह यौवन-रोग । १५
 देवतिलक — महाराज ! यौवन को व्याधि क्यों कहा
 जा रहा है ?

राजा — सुनिये —

कामोत्ताप प्रबल उपजाता, आखें सतत नचाता है,
 जंघा गाल नितम्ब हृदय में पूर्णशोथ उपजाता है;
 और-और करता विकार है, परिजन को दुखदायी है,
 यौवन-व्याधि आत्मनाशक ध्रुव संग्रहिणी का भाई है । १६

भानुमती — (संवरणका अभिनय करके नेपथ्याभिमुख होकर)
 हञ्जे वासन्तिके ! कुमारको लाओ, मैं उसे आगे करके आर्यपुत्र
 का मोह हटाऊँ ।

राजा — (आत्मगत) यह भी बड़ी कठिनाई शिर पर
 आ पड़ी ।

[प्रवेश करके कुमार माता के समीप खड़ा होता है ।]

भानुमती — (बालकको राजाके आगे करके आँखोंमें
 आँसू रोककर) आर्यपुत्र ! इस बालककी रक्षा कौन करेगा ?

राजा — (वैराग्य तथा शोक-युक्त आत्मगत)

अनेकों अन्य भाव हैं जयी

जीत लेते जो प्रबल विवेक ;

पुत्र से इनका हो यदि त्राण

इन्हें फिर जीत सके को नेक ? १७

देवतिलक— (देखकर सानन्दके समान) महाराज ! इस विषय में उत्तर दिया जाय ।

राजा— परकीय वस्तु (व्यक्ति) के रक्षणका भार मुझपर क्या है ?

पुत्र है यह मेरा ही, मैं ही कर्त्ता पालक हूँ—
ऐसा विश्वास चेतनमात्र का हो जाता है !
पर साक्षी आत्मा में यह सम्भव कहाँ से है ?
आत्म - युक्त देह देहान्तर उपजाता है ।
पूर्वकाल में भी जो सदैव वर्त्तमान ही है,
ईदृश आत्मा का जन्यत्व क्योंकर आता है ?
शाश्वत निवृत्त यह जनक भी न होता है,
ध्रुव एक काया से कायान्तर में जाता है । १८

अथवा यदि आत्मामें ही जन्य-जनक भाव हो, तथापि—

विश्व के पालक हैं श्रीविष्णु

सर्वजन - रक्षक यहाँ - अमुत्र;

उन्हीं पर रक्ष्यो दृढ़ - विश्वास,

जिलाये जिनने द्विजगुरुपुत्र । १९

देवतिलक— (कुमारकी ओर संकेत करके) हाय ! इसको कैसा कष्ट होगा !

अहह ! हृदयके सहज - स्नेह से पास बुलाकर
चपल किलकते हुए पुत्र को गोद उठाकर
क्रीड़ा से बिखरे केशों को कौन सँवारे,
धूलि-धूसरित वदन वसनसे मनसे मारे ? २०
राजा— (आत्मगत) अब ये ललित भाव किस हृदयके

अंकुश वन सकते हैं ? (प्रकाश) मन्त्रिवर !

क्षणिक मलिनकर भावका करो न व्यर्थ प्रचार;

निर्मल - आत्माके लिये दर्पण पर फूटकार ? २१

और भी—

स्वपत्नी के ही व्रण से गिरे

विनश्वर रक्त - रेत से क्लिन्न,

न होता कृमि में रक्षाभाव;

पुत्र में भी उससे क्या भिन्न ? २२

देवतिलक— महाराज ! पुत्र मुख्यतः स्वर्गसुखके कारण हैं,

इसलिये महात्मा लोग भी इनका आदर करते हैं ।

राजा— चिर-सञ्चित दुःखों से जो कथमपि मिल पाता,

स्थित भी नाशाशङ्का से नित दुख उपजाता,

स्वर्गादिक सुख वही नष्ट हो दुख की निधि है;

उसमें पण्डित-प्रीति ! विपदमें क्यों न ? सुविधि है ! २३

इसीलिये महात्मा लोग अच्छी तरह समझते हैं कि दुःखमय दुर्दिन

परिमाणमें कितने हैं और उसमें सुखरूप खद्योत कितने ? और भी

स्वर्गप्रभृतिक सुख ब्रह्मानन्द

महाजलनिधि के हैं कण - कल्प;

महत्तम वह अनन्त सुख त्याग

मूढ़ हम क्यों चाहें यह अल्प ? २४

देवतिलक— हाय ! बड़ा कष्ट है ! अब राजाश्रित इन

सम्पदाओंका क्या प्रकार होगा ?

राजा— काम - क्रोध - मद - सुषद सम्पदा मुझको छोड़े,

भोगेच्छुक जा किसी पुरुष से नाता जोड़े :

[हाथ जोड़कर]

क्षमा करें गुरु विप्र देव, वैदिक विधि तजता,
आत्मरूप मैं परब्रह्म को ही अब भजता । २५

देवतिलक- महाराज ! इस तरह अकिञ्चन हुए आपका शरीर
निर्वाह भी कठिन हो जायगा ।

राजा— स्वेच्छा से कर भ्रमण घरों से विविध रसानों का खाना,
गुलगुल गुदड़ी ओढ़ किसी तरुतर ही सुख से सो जाना;
'जहाँ शाम विश्राम वहीं' निज रुचि से शीतातप सहना,
शान्तिमुलभ सब सुख मनमें है, नहीं गेह में ही रहना । २६
और भी, इस शरीरके निर्वाहका विचार भी व्यर्थ ही है । देखिये—

आयु तुच्छकण समय-स्रोत का जो द्रुतगति बहता जाता,
उसका सम्बन्धी शरीर यह गतप्राय ही दिखलाता ;
रहना हो यह क्षणभर रहले, जाना हो सुख से जावे,
स्वात्मा यह सच्चिदानन्दमय सच्चा शाश्वत सुख पावे । २७

तथापि—

चलेंगे हम यम - आज्ञा मान

तर्जेंगे हमें भोग या राज्य ;

नियत हैं जो वञ्चक भव - भोग

क्यों न हम से ही होवें त्याज्य ? २८

और अभिनिवेश-पूर्वक सोचिये—

बिना रङ्ग कूची भित्ती के चित्र विचित्र बनाया है !

चित्रभ में संकल्प-शिल्प-कृत जगद्भान हो आया है ;

दीर्घस्वप्न इसको कहते हैं पण्डित इन्द्रजाल कोई,

तथा मानते नभ-गन्धर्वनगर इसको विशाल कोई । २९

गोरखनाथ जी— धन्य हो वत्स ! धन्य हो ! तुम सभी सोचानुरागी प्राणियों से आगे बढ़कर स्थित हो ! मन्त्रिवर ! अब इस न रोकने योग्यके लिए रोकनेकी चेष्टा करना व्यर्थ है । शून्य सिंहासन पर इस राजकुमारका अभिषेक करो; मैं भी राजाके साथ इसकी रक्षाका पक्षपाती होकर ही रहूँगा ।

देवतिलक— (निःश्वास छोड़कर) भगवान्की जो आज्ञा हो ।

[भानुमती शोक से विकल होकर विलाप करती है ।]

गोरखनाथ जी — देवी जी ! स्वामीके अमृतीकरणके समय फिर तुम्हारा समागम होगा । (राजाके प्रति) राजन् ! मैं तुम्हारा फिर और क्या प्रिय उपकार करूँ ?

राजा— (हाथ जोड़कर) भगवन ! इससे भी बढ़कर कोई प्रिय उपकार हो सकता है ?

गोरखनाथ जी — तथापि मैं यह शुभाशीर्वाद देता हूँ—

साधु-कार्य हों सिद्ध, ऋद्धिशाली हों नृपजन,
धर्मनोति से करें प्रजाका रक्षण - रञ्जन;
सुख से सज्जन रहें, अत्र पर हो न ईति-भय,
दानी की हों लक्ष्मी अक्षतपक्षपातमय;
जगमें हरिहर-सुगुणावलीमय-वाणी गौरव धरे,
सबजन तुमसम वरबोध से दुःखमय भवसागर तरें । ३०

[सब निकल गये ।]

। ॐ पंचम अङ्क समाप्त एवं प्रस्तुत भर्तृहरि-वैराग्य नाटक भी । ॐ



प्रथम चैत्र शुक्ल सप्तमी मङ्गलवार, संवत् २००२ वि०

॥ श्रीहरिः ॥

देव-दर्प-दलन

[एकाङ्की नाटक]

[विजयोल्लासमें उन्मत्तप्राय अग्निदेवका प्रवेश]

अग्नि— जला डाला मैंने, भस्म कर डाला इन दर्पोन्मत्त दैत्यों को ! इन्हें अपने बल और शक्तिका बड़ा ही अभिमान था; किन्तु इनकी एक न चली मुझ अग्निदेव के सामने !! अब यदि सारा संसार मेरी पूजा करता है, उत्तमोत्तम हव्यों को मुझमें ही भक्ति-श्रद्धा-समन्वित अर्पित किया करता है; तो ऐसा करना सर्वथा उचित ही है; क्योंकि आखिर सब देवों में मुख्य तो मैं ही हूँ !!!

[पीछेसे वायुदेवका प्रवेश]

वायु— (उपहासपूर्वक) भाई, इस तरह सूनेमें लम्बी डींग न हाँका करो । आखिर मैं न होता तो तुम कर ही क्या पाते ? इसलिए दर्पोन्मत्त दैत्य-दलके नाश करनेका श्रेय सर्वथा मुझको है ।

[पीछेसे इन्द्रदेवका प्रवेश]

इन्द्र— (साभिमान) नहीं, नहीं, भाइयो, ऐसा समझना तुम लोगों की निरी मूर्खता है । किसी भी विजयका श्रेय राजाको ही होना चाहिये । यदि मेरा यह दैत्य-दर्प-दलनकारी वज्र न होता तो तुम सब लाख शक्तिशाली होते हुए भी विजयी कदापि न होते । इसीलिए तो मैं देवेन्द्र माना जाकर सर्वत्र सर्वाराध्य रूपसे सदा

सर्वथा पूजित हो रहा हूँ। हाँ, तुम सब मेरे अनुचर तथा सहायक अवश्य हो; किन्तु सम्प्रति इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें मुझसे बढ़कर कोई नहीं है। इस विषयमें तो अब कुछ सन्देह हो नहीं रहा।

[कुछ दूर पर परम शान्त किन्तु तेजस्वी यज्ञके रूपमें ब्रह्मका प्रकट होना।]

ब्रह्म— (आपही आप धीरे से) ओ ह .. जिस आसुर अभिमानके कारण इन दैत्योंका पतन हुआ, वही अभिमान इन देवोंके भी हृदयमें आ बसा ! हाय ! अब इनका भी इसी अभिमानके कारण सर्वनाश हो जायगा ! नहीं नहीं, मैं ऐसा कदापि न होने दूँगा। अभी यह हालाहलसे भी अधिक भयानक विषबीज इनके पवित्रतम हृदय-क्षेत्रमें अंकुरित ही हुआ है, इसे मैं वृक्ष रूपमें कभी परिणत न होने दूँगा; सफल होने देने की तो बात ही क्या है ?

[दूरसे उनके तेजस्वी रूप को देखकर देवताओंका परस्पर आश्चर्यचकित होना।]

इन्द्र— (कौतूहलसे) अग्निदेव, देखो तो यह यज्ञके रूपमें कौन-सा अद्भुत पुरुष दिखायी दे रहा है ! मैं अपनी बुद्धिकी सारी शक्ति लगाकर भी इसे पहचान नहीं पाता ! इसके विषयमें कुछ अनुमान भी नहीं कर पाता ! तुम जाकर इस अद्भुत पुरुषका पता लगाओ कि यह कौन है ?

[अग्निदेव उधर बढ़ते तो हैं वड़े उत्साहके साथ; किन्तु ज्यों-ज्यों उसके निकट पहुँचते जाते हैं, त्यों-त्यों आश्चर्यचकित होते जाते हैं और जब अत्यन्त सन्निकटमें पहुँच जाते हैं, तब 'तुम कौन हो ?' यह पूछनेका उन्हें साहस ही नहीं होता। वे जिज्ञासा-पूर्ण नेत्रोंसे अपलक

[५१]

उसकी आंर देखते हुए चुपचाप खड़े हो जाते हैं ।]

ब्रह्म— (शान्त भावसे) तुम कौन हो ?

[प्रश्न सुनकर अग्नि अहंभावसे प्रज्वलित हो उठता है ।]

अग्नि— मैं ! मैं देवताओं में मुख्य अग्निदेव हूँ !

ब्रह्म— तुममें क्या शक्ति है ?

अग्नि— (आश्चर्यसे) मुझमें ? मैं संसारकी सभी वस्तुओं को बहुत ही शीघ्र भस्म कर सकता हूँ ।

ब्रह्म— (मुस्कराते हुए एक छोटा-सा वृण सामने रख देता है और कहता है) भला, इसे जलाओ तो ।

[अग्नि पहले तो उपेक्षा-पूर्वक उसे अपनी तर्जनीसे छूक जला डालना चाहता है, किन्तु जब वह जलता नहीं दीखता तब वह मानों अपने शरीरकी सारी शक्ति उसपर आरोपित करनेकी चेष्टा करता है; फिर भी जब वह जलता नहीं दीखता, तब वहाँसे सिर नीचा किये लज्जित होकर लौट आता है ।]

अग्नि— (उदास होकर) देवेन्द्र, मैं तो इसे कुछ समझ न सका; प्रत्युत उलटे मुझे लज्जित तथा अपमानित होना पड़ा !

इन्द्र— (आश्चर्यसे) वायुदेव, तुमतो घट-घटके व्यापक हो; पता लगाओ यह कौन है ?

[वायुदेव अग्नि की भाँति ही वहाँ जाते हैं; किन्तु वहाँ जाने पर स्तम्भित हो जाते हैं ।]

ब्रह्म— (शान्त रूपसे) तुम कौन हो ?

वायु— (गर्व से) मैं ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण प्राणियोंमें प्राण-रूप से सञ्चरित होनेवाला वायुदेव हूँ । आप मुझे नहीं जानते ?

ब्रह्म — तुममें क्या शक्ति है ?

[५२]

वायु— (सगर्व) मैं सभी चीजों को उड़ा ले जा सकता हूँ ।

ब्रह्म— (एक तृण रखकर) इसे उड़ाओ तो ।

[वायु हाथकी चेष्टासे उसे उड़ाने का भरसक उद्योग करता है; किन्तु उड़ा नहीं पाता, तब लज्जित होकर लौट आता है ।]

वायु— (खिन्न होकर) देवेन्द्र, यह विचित्र शक्तिशाली पुरुष ज्ञात होता है । वहाँ जाने पर मुझसे भी कुछ करते-धरते न बना; प्रत्युत अपनी शक्तिहीनताका ही अनुभव कर लज्जित होना पड़ा ! अब आप स्वयं इस अद्भुत पुरुषका कुछ पता लगा सकें तो लगा सकें... ..

इन्द्र— (आश्चर्य से) ऐसी बात है ! अच्छा अब मैं स्वयं ही जाता हूँ और देखता हूँ कि वह मुझ सहस्राक्षकी तीक्ष्ण दृष्टिसे अपने को कहाँ तक छिपा सकता है ।

[इतना कहकर वे बड़े गर्वसे आगे बढ़ते हैं और जैसे ही चक्षु के पास जाते हैं, वैसे ही वह यक्ष अन्तर्हित हो जाता है तथा इन्द्र अपनी दिव्यदृष्टिसे भी उसे देख नहीं पाते । इससे इन्द्र को भी आत्म-ग्लानि होती है ।]

इन्द्र— (आश्चर्य तथा ग्लानिसे) हाय ! यह तो मुझे देखते ही उपेक्षापूर्वक अन्तर्हित हो गया ! मुझसे बात भी न की ! (कुछ देर चुप रहकर) अब मैं अपनी दिव्यदृष्टिसे भी उसे कहीं देख नहीं पाता ! (कुछ सोचकर) अच्छा, अब मैं समाधि लगाकर देखता हूँ कि वह कौन था ? वञ्चू जायेंगे कहाँ ? कहा भी है कि 'वन का गीदड़ जायगा किधर ?' (वे समाधिस्थ हो जाते हैं तथा थोड़ी देर बाद समाधिसे उठकर आश्चर्य-मुद्रासे) ओ .. ह आश्चर्य ! परम आश्चर्य !! जिस समाधिके द्वारा त्रैलोक्यका कोई

[५३]

भी विषय दुर्बोध नहीं, उस समाधिसे भी मैं इसका पता न लगा सका ! अब क्या करूँ ? (सहसा हर्षका नाट्य करके) अच्छा, धन्यभाग ! वे भगवान् शङ्कर जी आ रहे हैं । इनसे तो उसका पता अवश्य लग ही जायगा ।

[शङ्करजीके निकटस्थ होने पर]

इन्द्र— (शङ्कर को प्रणाम करके नम्रतापूर्वक) देवदेव, आप नित्य ज्ञान-स्वरूप हैं, अतएव मुझे यह बतलाने की कृपा कीजिये कि यह जो अद्भुत यज्ञ अभी-अभी दिखाई दे रहा था, वह कौन था ? उसमें क्या-क्या शक्तियाँ थीं ? हम देवता-गण विश्व-विजयी होते हुए भी आज इससे अपने को पराजित-सा अनुभव कर रहे हैं ! क्या मुझ देवराजसे भी बढ़कर अज्ञेय शक्तिशाली पुरुष कहीं विद्यमान है ? जिसे पराजित करने की बात तो दूर रही, हम उसे पूर्णतः जान भी नहीं सकते !

शङ्कर— (हँसते हुए) ज्ञानलव दुर्विदग्ध ! तुझे अपने देवराजत्व का, अपनी मिथ्या शक्तिका अनुचित अहङ्कार हो उठा है । उसे ही तो समूल नष्ट करनेके लिए कृपया परब्रह्म परमात्माका का इस यज्ञके रूपमें साक्षात् प्रादुर्भाव हुआ था । उनकी अनन्त शक्तियोंका पता बिना उनकी कृपाके कोई पा नहीं सकता । उनकी इच्छा के बिना ब्रह्माण्डका एक तृण भी नहीं हिल सकता और पर्वत पक्षाच्छेदी तेरा वज्र भी कुकुरमुत्तेसे अधिक महत्त्व नहीं रखता । स्मरण रख, उनकी इच्छामात्रसे ही तेरे जैसे असंख्य देवेन्द्र कोट-पतङ्गके समान यथाकाल उत्पन्न होते तथा विलीन होते रहते हैं । यह जो सम्प्रति दैत्यों पर तूने विजय पायी है, यह वस्तुतः तेरी विजय नहीं, प्रत्युत उसी सर्व-शक्तिशाली परब्रह्म

[५४]

परमात्मा की ही विजय है। अतएव—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन वासव !

तत्प्रसादात्परां शान्तिं सुखं प्राप्स्यासि शाश्वतम् ।

[यह सुनकर इन्द्र अपने अहङ्कार को त्यागकर घुटने टेककर और हाथ जोड़कर परब्रह्म परमात्माका ध्यान करने लगते हैं]

शङ्कर — (इन्द्रके सिर पर हाथ रखकर) वत्स ! तुम यह उचित ही कर रहे हो। जाओ, इसी सद्बुद्धिके कारण अब तुम्हारा पराभव कभी नहीं होगा। (सब चले जाते हैं।)

॥ समाप्त ॥



फाल्गुन कृष्ण ८, रविवार, सं० २००२, दिनांक २४-२-१९४६ ।

।०। श्रीहरिः ।०।

कविताः अरुन्तुद व्याधि

[एकाङ्की नाटक]

[समय—पराह, स्थान—वैद्यराज सच्चिदानन्द मिश्रका दवाखाना ।
सामने दो रोगी बैठे हैं, वैद्य जी दवाकी पुड़िया बनाकर उन्हें देनेका
उपक्रम कर रहे हैं । बाहरसे स्थानीय नवयुवक अनूप कुमार आता
देखार्थी देता है । उसके निकट आ जाने पर पुड़िया रोगियों को देते हुए—]

मिश्रजी—“आइये आइये अनूपजी, आजकल तो आप
दर्शन भी नहीं देते ! न जाने आज कैसे राह भूलकर इधर
चले आये ! ”

अनूपजी—“क्या कहूँ ? जीवनमें कुछ न कुछ झझट तो
लगे रहते ही हैं । आज तबीयत और अधिक बेचैन है । ”

मिश्रजी—(उसके मुँहकी ओर देखते हुए) “कहिये क्या
हो रहा है ? ”

अनूपजी—(हाथसे इशारा करते हुए) “छाती पर कुछ
बोझ-सा लदा मालूम हो रहा है ! धीमा-धीमा दर्दका भी अनुभव
हो रहा है ! व्याकुलता बहुत है ! कहीं मन नहीं लगता ! ”

मिश्रजी—“बैठिये, यह कबसे हो रहा है ? ”

अनूपजी—(बैठकर) “कुछ-कुछ अनुभव तो सवेरेसे ही
हो रहा है; किन्तु ग्यारह बजेके बादसे तो बड़ी बेचैनी ! ”

मिश्रजी— “आपने रातमें खाना क्या खाया ? सोये कब ? ”

अनूपजी— “खाना तो रोटी-दाल खायी; किन्तु सोनेमें देर हो गयी, दो बजे रातमें सोया । ”

मिश्रजी— (आश्चर्यसे) “ इतनी देर क्यों हुई ? ”

अनूपजी— (सकुचाते हुए) “ एक कविता लिखने बैठ गया था । ”

मिश्रजी— (मुस्कुराते हुए) “ अच्छा ! आप कवि भी हैं ? मैं तो अभीतक यह बात जानता ही नहीं था ! सबेरे उठकर आपने क्या-क्या काम किया है ? ”

अनूपजी— “सबेरे उठते ही मित्रोंसे मिलने चला गया था, एकसे भेंट ही नहीं हुई ! एक सख्त बीमार है ! एक कॉलेज जाता हुआ रास्तेमें मिला ! किसीसे भी कुछ विशेष बातचीत न हो सकी ! दो-तीन माइलका चक्कर लगाकर ग्यारह बजे घर लौटा हूँ, तभीसे व्याकुलता अधिक अनुभव हो रही है । ”

मिश्रजी— (मनही मन) “हो न हो इनको अपनी कविता सुनाने लायक कोई व्यक्ति नहीं मिल सका है, इससे इनकी यह अवस्था हो रही है । अच्छा, पहले जरा इसकी जाँच तो की जाय । (प्रकट रूपमें) “अनूपजी, मैं आपकी दवाके लिए भी सोचता हूँ; किन्तु तबतक यदि कष्ट न हो तो रातकी वनायी अपनी कविता तो मुझे सुना दें । ”

अनूपजी— (प्रसन्न मुखमुद्रामें ठीकसे बैठकर) कविताका शीर्षक है— विवशता !

मिश्रजी— “ अच्छा ! ”

गङ्गा-महात्म्यम्

श्री गङ्गा देवि त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

तु त्वं हि हिमालयस्य पर्वतस्य चोत्पत्तिः ।

भूल-सुधार

[५७ वें पृष्ठके 'हृदय भी हृदय को न पहचानता है !' के
आगेका भूलसे छूटा हुआ अंश—]

मिश्रजी—“क्या कहना ! कमालका पद है ! दुःख मानों रूप
धरकर खड़ा हो गया है !”

“ पड़ा चित्त जो चित्त की चोट खाकर,
उठावे उसे कौन कैसे मनाकर ?
जहाँ मानता तब किसी के मनाये,
हृदय जब कभी वाल-हठ ठानता है !”

मिश्रजी— “धन्य हैं ! धन्य हैं ! आप जैसा सहृदय कवि ही
उसे मना सकता है ।”

[तब अनूपजीका स्वर कुछ और आकर्षक हो उठता है ।]

“ हृदय चाहता दुख दृगों से वहाना,
न दृग चाहते किन्तु दुखिया कहाना;
जगी वेदना चेतना को सुलाये,
हृदय निज विवशता न सकता बता है !”

मिश्रजी— वाह ! वाह ! आप जैसा

[५७]

“ न तुम जानते हो, न वह जानता है.

हृदय की व्यथा को हृदय जानता है !”

मिश्रजी— “ ठीक है, ठीक है ! आपकी व्यथा दूर की जायगी । ”

“ हृदय को हृदय भी नहीं खोल पाता,

हृदय से हृदय भी नहीं बोल पाता;

व्यथा की कथा को हृदय में छिपाये,

हृदय मौन लेकिन न मन मानता है !”

मिश्रजी— “ आह ! सचमुच कितनी विवशता है !”

“ बुझेगी कभी आग !—आशा कहाँ है ?

कहाँ तृप्ति ? केवल पिपासा यहाँ है !

हृदय के फफोले हृदय में दबाये

तड़पता यहाँ कौन ? किसको पता है ?”

मिश्रजी— (प्रसन्नतासे) “दिलका दुःख कहनेसे ही किसी को मालूम होता है । आपके फफोलोंकी भी सरदस - पट्टी की जायगी । ”

हृदय भी हृदय को कभी भूल जाता !

हृदय क्यों न इस भेद को जान पाता ?

हुए दो रहे एक जो — दुःख इसका

हृदय भी हृदय को न पहचानता है !”

मिश्रजी— “ वाह ! वाह ! आप जैसा क्रान्तदर्शी कवि-हृदय ही इस विवशता को दूर कर सकता है । मेरे जैसे व्योमवृद्ध अनुभवी वैद्योंके पास भी इसको सर्वथा शान्त करनेकी दवा कहाँ है ?”

[५८]

[कवि कवितामय हो उठता है]

“ हृदय को न मुख ही ! न मुख को हृदय है !

न कवि की प्रखर-कल्पना का विषय है !

विकल-चित्त के चित्र को हाथ ! अविकल

न कोई चितेरा चतुर आँकता है !”

[सहृदय मिश्रजी दोनों हाथोंसे कवि को खींचकर गले लगाते हुए भाव-विह्वलसे होते हुए कहते हैं—]

मिश्रजी— “शाबाश ! शाबाश ! शतशः हार्दिक धन्यवाद है— इस उदीयमान कवि को ! ये अन्तिम पंक्तियाँ ललित चित्रकला को वस्तुतः पराजित करती हुई काव्य-कलाकी विजय दुन्दुभी बजा रही हैं ! कविता को मूर्तिमती (साकार) बनाकर खड़ी कर रही हैं !” (कुछ प्रकृतिस्थ होते हुए जेबमें हाथ लगाकर) “ इस पर तो पचास रुपये पुरस्कार देना भी थोड़ा ही है; किन्तु खेद है कि सम्प्रति मेरे पास पाँच रुपये ही हैं !” (कहते हुए पाँच रुपयोंका नोट निकालकर कविके हाथमें देनेकी चेष्टा करते हैं ।)

[कवि परम प्रसन्न होकर दोनों हाथ जोड़ते हुए]

अनूपजी— “सहृदय महोदय ! आज मुझे आपसे सारी पृथ्वीका मूल्य मिल चुका ! जबकि आपने मेरी कविता केवल ध्यान से सुनी ही नहीं; प्रत्युत उसकी वर्णनशैली को पूर्ण रूपसे हृदयंगम भी किया है। क्योंकि महाराज भोजकी गुणग्राहकता पर प्रसन्न होकर महाकवि कालिदासने एक बार कहा था—

“दत्ता तेन कविभ्यः पृथ्वी सकलापि रत्नसम्पूर्णा;
दिव्यां सुकाव्यरचनां क्रमं कवीनां च यो विजानाति ।”

[कवि यह कहकर उठकर जानेका उपक्रम करता है ।]

मिश्रजी— (प्रसन्नतासे) “ अरे ! जरा ठहरिये तो सही, अभी आपको दवा भी तो देनी है ।”

अनूपजी— (कुछ सकुचाते हुए) “ नहीं नहीं, अब उसकी आवश्यकता कुछ भी नहीं है । अब तो मेरा शरीर सर्वथा स्वस्थ तथा मन पूर्ण प्रसन्न हो गया !”

मिश्रजी— “ अच्छा, कभी - कभी यों ही आकर कुछ - कुछ सरोहारिणी रचना सुनाते रहियेगा ।”

अनूपजी— (हाथ जोड़कर) “ आपकी आज्ञा सर्वथा शिरोधार्य है ।” (चला जाता है ।)

मिश्रजी— (मनही मन) “ सचमुच मेरा अनुमान ठीक ही निकला, किन्तु वास्तवमें कविता भी कमाल की हुई है !”

×

×

×

[फिर कभी दूसरे किसी दिन कवि वहीं व्यग्रतासे आता दिखायी देता है । मिश्रजी उसकी अभ्यर्थनामें तुरत उठकर खड़े हो जाते हैं ।]

मिश्रजी— (हार्दिक प्रसन्नतासे) “ आइये आइये ! अहो-भाग्य है कि आप जैसे कलाकारका शुभ दर्शन हो !”

अनूपजी— (हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए) “ बड़ोंकी प्रतिष्ठासे पत्थर भी शिवत्व को प्राप्त कर लेता है !”

मिश्रजी— “ केवल बड़ोंकी प्रतिष्ठा ही नहीं, उसमें कुछ निजी शक्तियाँ भी रहती ही हैं ।”

अनूपजी— “ किन्तु उनको माननेवाला भी तो कोई होना चाहिये ।”

मिश्रजी— “ भला, आप जैसे कविका कथन मिथ्या कैसे कहा

ना सकता है ? बैठिये ।”

[उसके यथास्थान बैठ जाने पर]

“ हाँ, तो मैं आपकी सुधास्यन्दिनी कविता सुननेके लिये उती दिनसे अत्यन्त लालायित हूँ । अतएव कुछ आज भी सुनाइये ।”

अनूपजी—(हाथ जोड़कर) “यह आपका परम अनुग्रह है ।”

[कहकर कविता सुनाने लगता है । बीच-बीचमें मिश्रजी कुछ-कुछ प्रशंसा-सूचक वाक्य बोलते जाते हैं ।]

“ साथी मेरी बात न पूछो !

जाने क्यों रहती है सुख की मुक्त से मेरी आशा रूठी !

जाने क्यों लगती कोई भी मंगल की जिज्ञासा मूठी !

मृदुता की रक्षा में कितना सहता हूँ आघात न पूछो !”

मिश्रजी—“अरे ! आशा तो मानवमात्रकी सहचरी है; किन्तु खेद ! जब आपकी आशा ही रूठी रहने लगी ! तब कहा ही क्या जाय ?”

“ जाग उठी जो अन्तर्ज्वाला जलती जिसमें रही जवानी !

नील-नयन के श्याम-गगन से भरता रहा निरन्तर पानी !

फिर भी मैं प्यासा का प्यासा, यह कैसी बरसात न पूछो !”

मिश्रजी—“ यह भावुक कवि-हृदयकी अजब प्यास है !”

जीवन के प्रश्नों के हलमें जिसकी बुद्धि सदा चकरायी !

जान न पायी जिसने आखिर जीवन की कितनी गहराई !

उसै थाह किस ओर मिलेगी ? अवतक है अज्ञात न पूछो !”

मिश्रजी—“जीवनकी गहराईकी थाह पाना सचमुच कठिन है !”

“कभी स्नेह-पूरित दीपक भी जलते-जलते क्यों बुझ जाता ?

मर मिटता कोई, पर कोई फिर भी क्यों कर समझ न पाता ?

प्रेमी के प्राणों में कैसे उठते संभावना ! न पूछो !”

मिश्रजी—“वाह ! प्रेमीके व्याकुल हृदयका सजीव चित्रण है !”

“घोर निराशा की रजनी में थकी चेतना जब सो जाती !

चिन्ता जब बोझिल साँसों में बेचैनी आहें ढो लाती !

मन के सूनेपन में क्या-क्या होते हैं उत्पात ! न पूछो !

मिश्रजी—“सच है, निराशाकी रजनीमें बेचैन के लिए सब उत्पात ही है ।”

“दिन-दिन भर चलने पर भी जो कभी लक्ष्य तक पहुँच न पाये !

यौवन की सन्ध्या में जिसके चलते-चलते पग थहराये !

उस प्रिय से बिछुड़े राही की कैसी होती रात ? न पूछो !

साथी मेरी बात न पूछो !

[कविता पाठ समाप्त हो जाने पर]

मिश्रजी—“वाह ! आप तो छिपे रुस्तम निकले । चोट खाये हृदयकी वड़ी ही मर्मस्पर्शिनी कविता लिखी है । इन्हें कहीं प्रकाशित क्यों नहीं करवाते ?”

अनूपजी—(कुछ खिन्न होकर) “दैनिक या साप्ताहिक पत्रोंमें प्रकाशित करवाना मुझे ही अभीष्ट नहीं । मासिकोंके सम्पादक अख्यातनामा कवियोंकी कविताएँ प्रकाशित करना ही नहीं चाहते ! तब किया क्या जाय ? अभी कुछ दिन हुए — एक प्रसिद्ध मासिक के सम्पादकने मेरी रचना स्वीकृत भी कर ली थी; किन्तु, कुछ ही दिनोंके बाद परिवर्तित नवसम्पादकने उसे वापस कर दिया ! वे न जाने कैसी प्रगतिशील कविता चाहते हैं ! मुझे तो “कँगारू” या “रबड़ छन्दी छन्द” की कविताएँ पढ़ने की भी इच्छा नहीं होती; लिखने की तो बात ही दूर है ! अबतो “कविता” “नयी कविता”

से “अकविता” बनती जा रही है !”

मिश्रजी— (गम्भीर होकर कुछ देर सोचकर) “अच्छा, कोई किसी की कितनी भी उपेक्षा क्यों न करें; किन्तु सत्यपर परदा नहीं दिया जा सकता। कहा भी है—

यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम् ;

नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ।

प्रिय वत्स ! हिन्दीके होनहार विरवान ! धैर्य रखना, मैं कहे देता हूँ, देख लेना; एक न एक दिन ऐसा अवश्य आयगा, जब आप पूर्ण विख्यात होकर ही रहेंगे। तब सम्पादकोंकी माँगोंका ताँता बँध जायगा।

अनूपजी— (खेदके साथ) “किन्तु यह तब होगा, जब मुझ में कुछ लिखनेकी शक्ति ही बाकी न रह जायगी ! तथापि आप सत्यवादी ब्राह्मणका आशीर्वाद सर्वथा सत्य हो।”

[प्रणाम करके बिदा हो जाता है।]



भाद्रपद कृष्ण प्रतिपदा, सोमवार, सं० २०२१, दि० २४-८-१९६४ ई०

सम्मति

श्री हरिहरोपाध्याय कृत भर्तृहरि निर्वेद नाटकका पं० नन्दकिशोर झा विरचित हिन्दी अनुवाद “ भर्तृहरि-वैराग्य ” पढ़नेका अवसर मुझे प्राप्त हुआ। अत्यन्त आकर्षक प्रभावोत्पादक तथा सहृदयहृदयार्कषक यह अनुवाद मौलिक रचनासे भिन्न नहीं प्रतीत होता।

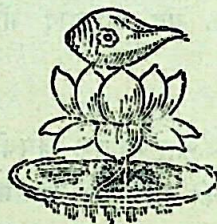
यह रचना अ.सत् भौतिक विषयोंमें लिप्त विषयेन्द्रिय-संयोग-जन्य सुखाभास को ही सुख माननेवाले भ्रान्त जीवोंकी आँखें खोलनेके लिए पूर्ण समर्थ है, साथ ही, विद्वज्जनोंके लिए भी आनन्ददायक है। हिन्दी भाषा समझनेवाले सज्जनों को वैराग्य विषयका परिचय प्राप्त करनेमें इससे यथेष्ट सहायता मिलेगी। हिन्दी भाषाके रङ्गमञ्च पर आकर यह रचना निःसन्देह सामाजिक सज्जनोंके हृदयमें अपूर्व चमत्कारका आधान करेगी।

इससे नाटक रचनाका उद्देश्य अवश्य ही सिद्ध हुआ है। मैं हृदयसे इसकी प्रशंसा करता हूँ।

चन्द्रदेव शर्मा,

भूतपूर्व प्रधानाध्यापक,

राज संस्कृतोच्च विद्यालय, बेतिया।



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	४	पासल	पारसल
५	११	चत्र	चैत्र
७	२	आप्यापित	आप्यायित
६	१५	विषमें	विषयमें
३७	२३	'म' का	'भ' का
३६	१८	अत्मगत	आत्मगत
५१	५	ब्रह्म	ब्रह्म
५८	२	मुख ही !	मुख हा !

द्रष्टव्य— इस पुस्तकमें प्रकाशित “ कविता अरुन्तुद व्याधि ”
 शीर्षक एकाङ्की नाटकमें मुद्रित दोनों कवितायें लेखकके ज्येष्ठ पुत्र
 श्री भवदेव मा, एम० ए० (संस्कृत - हिन्दी) की हैं ।

लेखक की अन्य कृतियाँ—

१ प्रिय-मिलन,

श्रीमद् भागवतकी कथाओंके आधार पर

खड़ी बोलीमें रचित महाकाव्य— ४ . ००

२ मेरी सबसे बड़ी कहानी,

कुछ कल्पित एवं सत्य कथाओं का

शिद्दाप्रद सुन्दर संग्रह— १ . ००

३ चलाक-चौखड़ी (पहिला भाग),

भोजपुरीमें रचित शिद्दाप्रद रुचिकर

कथाओंका संग्रह— ० . ३५

४ चलाक-चौखड़ी (दूसरा भाग)—

० . ४५

५ चलाक-चौखड़ी (तीसरा भाग)—

० . ५०

६ बुड़िबक-बहार (पहिला भाग),

भोजपुरीमें रचित रुचिकर कथाओंका संग्रह—

० . ३५

७ हृदय, कवि आ की स्फुटकविताओंका संग्रह—

१ . ००

८ प्रिय-प्रयाण,

संस्कृत भाषाका खण्डकाव्य—

० . ५०

९ प्रिय-प्रवास-पाथेय,

हरिऔध जी 'प्रिय-प्रवास' पर कुछ विचार—

१ . ००

प्राप्ति - स्थान :—

पं० नरदेव आ (अध्यापक),

राजसंस्कृतोच्चविद्यालय, बेतिया (चम्पारण)

